काव्य-कुसुम

डॉ० रामकुमार वर्मा

सत्यमेव जयते

अपनी प्रिय धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रावती देवी

की पुण्य स्मृति में

प्रोफेसर प्राणनाथ

डी० एस सी० द्वारा भेंट।

काव्य-कुसुम

सम्पादक

डाक्टर रामकुमार वर्मा

एम० ए०; पी-एच० डी०

भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

हिन्दुस्थान बुक हाउस

हॉस्पिटल रोड, परेड

कानपुर

प्रकाशक
आनन्दनारायण शिवपुरी
मैनेजर
हिन्दुस्थान बुक हाउस
परेड, कानपुर

संस्करण : जून, १९७४

जनगणमन-अधिनायक जय हे भारत-भाग्य विधाता।
पंजाब सिंधु गुजरात मराठा द्राविड़ उत्कल बंग
विन्ध्य हिमाचल यमुना गंगा उच्छल जलधि तरंग
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिष माँगे,
गाहे तव जय-गाथा।
जनगणमंगल-दायक जय हे भारत-भाग्य-विधाता।
जय हे, जय हे, जय हे,
जय जय जय, जय हे !

मूल्य ३.४०

मुद्रक
अमलतास प्रेस
परेड, कानपुर

निवेदन

प्रस्तुत संग्रह माध्यमिक विद्यालयों की इण्टरमीडिएट कक्षाओं के लिए तैयार किया गया है। कवियों और उनकी रचनाओं का चुनाव करते समय यह ध्यान रखा गया है कि संग्रहीत रचनायें काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हों और उनके रचयिता हिन्दी साहित्य का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम हों। इसके अतिरिक्त, यह प्रयत्न किया गया है कि राष्ट्रीय-भावन्ना से युक्त तथा नैतिक-भावना को जागरित करने वाली कवितायें भी उचित अनुपात में रहें।

पुस्तक के अन्त में दिये गये सहायक प्रश्न विद्यार्थियों के लिये उपयोगी होंगे।

आशा है यह संग्रह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल होगा।

दिसम्बर, १९५५ —सम्पादक

विषय-सूची

हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूप रेखा

हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा खींचते समय हमारे सामने किसी प्रदेश का नहीं वरन् समस्त देश का चित्र खिंच जाता है। उसका कारण यह है कि हिन्दी साहित्य का महत्व अखिल भारतीय रूप में है। हिन्दी का आदि स्थान, मध्य प्रदेश में होने के कारण, इतना प्रभावशाली रहा है कि देश के अन्य विभागों ने अपने साँस्कृतिक विकास के लिए मध्य प्रदेश के संकेत का ही अनुकरण किया है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का इतिहास भारतवर्ष के इतिहास का बीज-मंत्र है। इसमें भारतीय संस्कृति और सभ्यता की उस विविध परिस्थितियों के चित्र हैं, जो विविध राष्ट्रों और जातियों के सम्पर्क और संघर्ष से चित्रित हुए हैं। इसमें भगवान के उस चिरन्तन सत्य के अनेक प्रतिबिम्ब हैं, जिसमें स्वतन्त्रता और आत्म-सम्मान के चरित्र का निर्माण होता है, जिसमें एक ओर वीर-पूजा की भावना है तो दूसरी ओर देश या धर्म के लिए आत्मोत्सर्ग है। इसमें धर्म के उन विभिन्न रूपों का विकास और विस्तार है जिनमें प्रतिमा और मूर्तिपूजा से लेकर निरंजन ब्रह्म की उपासना है। इसमें कला की ऐसी चित्र-रेखा है, जिसमें सौन्दर्य सजीव हो जाता है और यौवन ही जीवन का वैभव बन जाता है। संक्षेप में, इसमें एक विशाल जन-समुदाय के हृदय और मस्तिष्क का इतिहास है जिसे शताब्दियों की लहरें छूकर चली गईं किन्तु उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकीं, क्योंकि हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रत्येक धारा आज भी प्रवहशीला है।

हिन्दी साहित्य में समस्त देश के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विकास का स्पष्ट आलेखन है। इसके निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) राजनीतिक—किसी भी देश की जनता के विचार अधिकतर शासकों की मनोवृत्ति पर निर्धारित रहते हैं। शासकों ने सदैव शासितों

की मनोवृत्ति को प्रभावित किया। शासितों के आदर्शों को नष्ट करके ही उन्हें अपने अधिकार में रखा जा सकता है। इसका प्रभाव यहाँ तक पड़ता है कि शासितों की भाषा, वेष-भूषा और जीवन की गति-विधि ही बदल जाती हैं। यदि शासितों में संघर्ष करने की प्रवृत्ति हुई तो शासकों पर भी कुछ मात्रा में शासितों का प्रभाव पड़ सकता है। अधिक से अधिक दोनों में विचार-विनिमय या सिद्धान्त-विनिमय हो सकता है। किन्तु प्रायः देखा यही जाता है कि सर्वत्र शासकों ने ही शासितों को अधिक प्रभावित किया है। इसलिए जब कोई नवीन जाति किसी देश में पदार्पण करती है तो वह या तो शक्ति से या कौशल से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ कर देती है और शासितों पर अपना एक-छत्र आधिपत्य बनाये रखने के लिए उसके साहित्य और इतिहास को नष्ट कर देती है। भारत में अनेक जातियों ने प्रवेश किया और उनके आगमन ने साहित्य के इतिहास में अनेक सन्धिस्थल उपस्थित किये। उनके विरोध में जिन शक्तियों ने लोहा लिया उनकी प्रशस्तियों में कुछ ऐसे वीर-काव्य निर्मित हुए जो अपने ओज और उल्लास में चिर नवीन बने रहेंगे। इस प्रकार राजनीतिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से साहित्य के इतिहास में अनेक उत्थान और पतन दृष्टिगत होते हैं।

(२) परम्परागत—भौगोलिक परिस्थितियों के कारण किसी भी देश के जल-वायु और ऋतु-क्रम से जन समुदाय में कुछ ऐसी प्रथायें और रीतियाँ चल पड़ती हैं जिनमें मनुष्य की पारस्परिक सहानुभूति और सहिष्णुता के चिह्न दृष्टिगत होते हैं। इसी मनोवृत्ति में उसकी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है। समाज की किसी व्यवस्था-विशेष से ही अनेक मान्यतायें निकल पड़ती हैं जो परम्परा बनकर भविष्य में दृढ़तर होती जाती हैं। कभी-कभी वे रूढ़ि भी हो जाती हैं। तब ऐसी रूढ़ियों का उन्मूलन करना एक बड़ा प्रश्न हो जाता है। इन्हीं रूढ़ियों के उन्मूलन में तथा सामाजिक विषमता के विरोध में अनेक प्रेम-कथाओं का जन्म होता है जो ग्राम-गीतों या ग्राम-कथाओं के रूप में जनता में

सुनी और पढ़ी जाती हैं। हीर-राँझा, ढोला-मारू, माधवानल-कामकंदला आदि के मिलन और विरह की आशायें और निराशायें जनता के अश्रु-हास से मिलकर जनपदीय साहित्य का निर्माण करती हैं। जब ये प्रेम-कथायें जनता में प्रचलित हो जाती हैं, तव इन्हीं के आधार लेकर कवियों और चारणों की प्रतिभा साहित्य का निर्माण करती है। किसी देश में इस प्रकार का साहित्य उसके मनोभावों का प्रतीक होकर उपस्थित होता है। यह प्रतीक उसकी संस्कृति और सभ्यता का मानदण्ड होता है ओर युग-विशेष के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण संकेत चिह्न। इस प्रकार हमारे देश में जितनी भी सामाजिक और व्यवहारगत परम्परायें चली हैं, वे सब हमारे साहित्य की ऐसी आधार-शिलायें हैं जिन पर युगों के इतिहास का प्रासाद खड़ा हुआ है।

(३) धार्मिक—मनुष्य जब अपने जीवन-क्रम में अनेक विपत्तियों से ग्रस्त होता है तव उसके हृदय में संसार से विराग होने लगता है और उसका निराश हृदय एक ऐसे आधार की खोज करता है जो उसे विपत्ति में वल दे सके और असहायावस्था में आश्रय दे सके। यह वल और आश्रय उसे ईश्वर से ही मिलता हैं। ऐसी अवस्था में संसार उसे मिथ्या लगने लगता है और ममता और मोह भ्रम ज्ञात होता हैं। इसके विपरीत भी मनुष्य जब अपने जीवन में संतुष्ट होता है, तब उसे अपने चारों ओर विशाल जगत में, वैभवमयी प्रकृति में और शून्य आकाश में इतना विस्तार, आलोक और व्यापकता का ज्ञान होता है कि वह संसार से परे किसी अलौकिक सत्ता की खोज करने में व्यस्त हो जाता है और उसके हृदय में इस असीम अनन्त सत्ता के प्रति श्रद्धा और भक्ति की स्रोतस्विनी फूट निकलती है। इस प्रकार संतोष और असन्तोष, अनुराग और विराग, सुख और दुःख दोनों में ही वह ईश्वर के प्रति आकृष्ट होता है और उसकी असीमता के सामने श्रद्धावनत हो जाता है। वह ईश्वर को अनेक प्रतीकों में देखता है, उससे अपना सम्बन्ध जोड़ने में अनेक प्रकार की उपासनाओं की कल्पना करता है, उसे समझने के लिए अनेक प्रकार

के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार उसका धार्मिक साहित्य निर्मित होता है, जो उसके श्रद्धामय जीवन का प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। इन धार्मिक सिद्धान्तों में कभी-कभी महान् अन्तर हो जाते हैं, कभी-कभी उनमें विरोध भी हो जाता है, उपासनाओं के मार्ग में संघर्ष होता है, किन्तु जो सिद्धान्त और उपासना जिसे सुविधाजनक और विश्वासमय जान पड़ती है, वह उसी का अनुसरण करता हुआ अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है।

(२) **कलात्मक**—जिस देश का साहित्य सौन्दर्य के प्रति जितना अधिक जागरूक होगा वह उतना ही अधिक कलात्मक होगा। यह सौन्दर्य चाहे इन्द्रियों से परे हो, चाहे इन्द्रियों के वश में हो, चाहे आध्यात्मिक हो, चाहे लौकिक हो। यही सौन्दर्य रागात्मक प्रवृत्तियों को जागरित करने में समर्थ होता है। इन रागात्मक प्रवृत्तियों से मनुष्य के स्वभाव में कोमलता और सहिष्णुता का आविर्भाव होता है और जाति एवं वर्ग से परे कला के निरीक्षण की शक्ति आती है, क्योंकि कला और सौन्दर्य की कोई जाति नहीं होती। दोनों में अभिन्न सम्बन्ध भी है। यदि यह कहा जाय कि सौन्दर्य के सूत्र में ही कला के मोती पिरोये जाते हैं तो अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकार सूत्र प्रत्येक मोती में होकर उन्हें एक क्रम में व्यवस्थित रखता है, उसी प्रकार सौन्दर्य प्रत्येक प्रकार की कला में निहित रहकर कला के विविध रूपों में समन्वय करता है, फिर वह कला चाहे काव्य-कला हो या संगीत-कला, चित्र-कला हो या मूर्तिकला, वादन-कला हो या नृत्य-कला। यह चाहे 'चन्द्रकला' हो या शिवजी द्वारा गिरिजा को छल कर गंगा के छिपाने की 'छन्द-कला' हो। कला के अन्तर्दर्शन में सौन्दर्य है और सौन्दर्य के अन्तर्दर्शन में कला। इस प्रकार प्रकृति की शोभा या शरीर की शोभा का चित्रण करना कलाकार

'कौन है सीस पै,' 'चन्द्रकला' 'कहा याको है नाम यही त्रिपुरारी'।
'हाँ यही नाम है, भूल गई किमि, जानत हूँ तुम प्रान पियारी'॥

का आदर्श हो जाता है। यह आदर्श तभी तक मान्य है जब तक उसमें सुरुचि होती है, क्योंकि सुरुचि ही जीवन को पवित्र और कल्याणमय मार्ग पर परिचालित करती है। सुरुचि से इन्द्रिय-जनित भावनाओं में आवेग उत्पन्न होता है। कवि सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य की उपासना करता है और उससे प्रेरित होकर जिस मनोवृत्ति को प्रश्रय देता है, उसी से साहित्य का निर्माण होने लगता है।

(५) **बौद्धिक**—ज्ञानार्जन से बुद्धि का विकास होता है। यह बुद्धि तर्क का आश्रय ग्रहण कर जीवन की विविध परिस्थितियों की आलोचना करती है। इस तर्क में भावना के लिए कोई स्थान नहीं रहता। जब काली घटाओं की पीठिका पर सप्तरंगों से रंजित इन्द्रधनुष निकलता है तो जान पड़ता है, जैसे देवताओं ने वर्षा के स्वागत में स्वर्ग के द्वार पर रत्नों की झालर बाँध रक्खी है। यह तो हुई इन्द्रधनुष को देखकर हृदय में उठी हुई भावना। किन्तु बुद्धि ने मस्तिष्क में जाकर चिन्तन करते हुए यह अन्वेषण कर दिया कि जब जल-बिन्दु के भीतर से सूर्य की किरण जाती है तो वह सात रंगों में विभाजित हो जाती है और विबिजिआर (Vibgyor) में उनका क्रम होता है। इस वैज्ञानिक अन्वेषण ने इन्द्रधनुष की समस्त कल्पना और भावना को ठोकर मारकर चूर-चूर कर दिया। इसलिए मस्तिष्क और उसका आश्रय तर्क कविता के क्षेत्र में वैसे ही अप्रिय और प्रतिकूल हैं जैसे किसी सुकुमार शरीर के सौन्दर्य में कंकाल का अन्वेषण। भावना और तर्क में भेद है। एक में हृदय प्रदान है, दूसरे में मस्तिष्क। एक में श्रद्धा है, दूसरे में इड़ा। इस पार्थक्य के कारण ही कहा गया है कि जब सभ्यता का विकास होता है तब कविता का पतन होता है। सभ्यता प्रत्येक वस्तु को बुद्धि-वैभव से ग्रहण करती

'नारहिं पूछत चन्द्रहिं नाहिं' 'कहै विजया जदि चन्द्र लबारी'।
यों गिरिजैं छलि गंग छिपावत, ईस हरौ सब पीर तुम्हारी॥
(मुद्राराक्षस नाटक के मंगलाचरण का भारतेन्दु कृत अनुवाद)

है उसमें कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं है। उसे नीर-क्षीर विवेक की भाँति अपने सिद्धान्तों का संग्रह और त्याग करना पड़ता है। अतः सभ्यता अपने बुद्धि-वैभव और तर्क-जाल के कारण कविता को बहुत पीछे छोड़ देती है। वह विज्ञान का आश्रय लेकर भौतिक उन्नति में विश्राम करती है। जीवन के विविध क्षेत्रों में उपयोगिता के दृष्टिकोण से वह अपने ज्ञान का प्रसार करती है। जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों का विश्लेषण कर वह ज्ञानमयी मीमांसा से अपना नैतिक विकास करती है।

इस प्रकार साहित्य के निर्माण में अनेक प्रवृत्तियाँ काम करती हैं, प्रमुख रूप से, जैसा ऊपर विचार किया गया है, वे राजनीतिक, परम्परा-गत, धार्मिक, कलात्मक और बौद्धिक हैं। परिस्थिति या युग के अनुसार एक या एक से अधिक प्रवृत्तियाँ एक साथ ही कार्य करती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का निर्माण किया है। अपभ्रंश के क्रोड़ से निकलने वाले जन-साहित्य ने जो विचार-धारा प्रस्तुत की वह अधिकतर धार्मिक प्रवृत्ति से ही शासित थी। उस जनसाहित्य में बौद्ध धर्म के उत्तरपक्ष की वज्रयानी शाखा में सिद्ध-साहित्य की रचना हुई, श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन सम्प्रदायों ने उसमें अपने सिद्धान्त-ग्रंथ और आचार-ग्रंथ लिखे, नाथ सम्प्रदाय के योगियों और अवधूतों ने अलख निरंजन की उपासना की। उसके बाद के चारण-साहित्य में राजनीतिक प्रवृत्ति विशेष रूप से रही जिसमें चारणों ने अपने देश और उसकी मर्यादा पर मर-मिटने वाले नरेशों की वंशावलियाँ, प्रशस्तियाँ और युद्ध-यात्रायें लिखीं। अनेक 'रासो' लिखे गये और उनमें राजनीति के साथ अन्तःपुर के उल्लास की हँसी और विषाद की सिसकी की कलात्मक अभिव्यंजना की।

इसके बाद ही परम्पराओं का साहित्य आता है जिसमें लोक-भावना अनेक गीतों और इतिवृत्तों में कथाओं और प्रेम-कथाओं का रूप लेकर अग्रसर होती है। ये प्रेम कथायें अपने सीधे-सादे ग्राम्य वातावरण से पोषित होकर प्रेम के आदर्श में अपना निर्माण करती हैं। इन

प्रेम-कथाओं में इन्द्रियों के प्रति प्रेम की अपेक्षा आत्मिक प्रेम अधिक होता है और वह संसार के बड़े से बड़े विरोध और जीवन की बड़ी से बड़ी विपत्ति से पराजित नहीं होता। इसलिए जब समाज की व्यवस्था से उसका विरोध होता है तो वह घटने के बजाय दिनों-दिन बढ़ता जाता है और लोक-निंदा की प्रचण्ड अग्नि में जलकर वह सच्चे स्वर्ण की भाँति 'बारह वान' की संपूर्ण कान्ति से शोभा-संपन्न हो जाता है। वियोग की कठिन कसौटी पर प्रेमी और प्रेमिका की हृदय-द्रावक परीक्षाएँ होती हैं, प्रेमी का देश निर्वासन होता है, उसे अनेक प्रकार के दण्ड दिए जाते हैं, प्रेमिका को कुल की मर्यादा और शील की शृंखला में अवरुद्ध रहकर प्रेमी की कष्ट-कथा सुननी पड़ती है। फिर भी उनका प्रेम ध्रुव तारे की भाँति न तो कभी अपने स्थान से विचलित होता है और न कभी अपनी ज्योति में क्षीण होता है। विरह में पत्र-विनिमय और बारहमासे की करुणाव्यंजक परिस्थितियाँ दिखलाई जाती हैं। पत्र में शब्द थोड़े किन्तु भाव अधिक, अथवा पथिक द्वारा भेजे गये संदेशों में संस्मरण और मिलनोत्सुकता की तीव्र आकांक्षाएँ रहती हैं। 'बारह-मासे' में प्रत्येक मास और ऋतुओं के उत्सव और त्योहारों में सहेलियों का आनन्दोल्लास और प्रेमिका की तज्जनित निराशा और वेदना; अथवा वर्षा, शीत और ऊष्मा में प्रेमी के कष्टों की कल्पना ही अधिक रहती है। इस प्रकार उन प्रेम-कथाओं में सच्चे और सरल प्रेम की हृदय से निकली हुई पुकार अपनी तीव्रता और सात्विकता में अनुपमेय रहती है। पंजाब में हीर-राँझा, राजस्थान में ढोला-मारू और मध्य प्रदेश में मधवानल-कामकन्दला की प्रेम कथाएँ अमर हैं।

उसके बाद भक्ति साहित्य के निर्माण में धार्मिक भावना सहस्रधारा होकर प्रवाहित हुई। इस भक्ति ने न केवल आर्य-धर्म में अध्यात्मवाद की सृष्टि की वरन् मुसलमानों के इस्लाम धर्म के अन्तर्गत सूफीमत की वेदान्तवाद से मिलती-जुलती भावनाओं की रूपरेखा खींची। आर्य-धर्म के सम्बन्ध में जितने भी दृष्टिकोण उपस्थित किये जा सकते हैं, वे सब

इस भक्ति-साहित्य में उपस्थित किए गए। एक ओर यदि निर्गुण ब्रह्म 'निरंजन' की उपासना है जो साकार और निराकार से परे है तो दूसरी ओर ऐसे सगुण ब्रह्म की भक्ति है जो अवतार लेकर मनुष्य की भाँति ही सुख-दुख से आन्दोलित होता है। एक ओर वह ब्रह्म 'राम' होकर मर्यादा-पुरुषोत्तम का रूप धारण करता है तो दूसरी ओर वह लीलावतारी 'कृष्ण' होकर गोपियों के साथ यमुना-तट के किसी कुन्ज के समीप 'रास' रचाता है। भक्ति-साहित्य में ऐसे व्यापक और सुगम अध्यात्मवाद को वैष्णव धर्म ने प्रचारित किया। शिव की उपासना अधिकतर स्त्रोतों और नचारिकों में हुई जिसमें वे नट का वेश धारण कर डमरू बजाते हैं और गौरी भी जिनके साथ नाचने की अभिलाषा रखती हैं। शक्ति की उपासना भी बड़े सौम्य रूप में हुई है जिसमें उन्हें 'भव भव विभव पराभव कारिनि' का विशेषण देकर, अन्तर्यामिनी के रूप में चित्रित किया गया है। ब्रह्म के साथ अनेक देवी-देवताओं की उपासना में साहित्य लिखा गया जिसमें भैरव और हनुमान प्रमुख हैं। इन सब धार्मिक सम्प्रदायों में श्रीकृष्ण की उपासना-पद्धतियों में इतनी विविधता आ गई कि अनुराग की प्रत्येक झलक श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में साकार हो उठी। श्रीकृष्ण भक्ति के आराध्य होते हुए भी शृंगार के प्रतीक बन गये, और यहीं से आगे चलकर श्रीकृष्ण का कलात्मक चित्रण प्रारम्भ होता है। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के साथ राधा का संयोग शृंगार-रस की परिपाटी का प्रारम्भ करता है जिसमें नायक-नायिका भेद अपने संपूर्ण विस्तार के साथ हिन्दी काव्य-क्षेत्र में चित्रित हुआ है। नायक-नायिका का आलंबन प्राप्त कर शृंगार-रस अपने उद्दीपन में प्रकृति की शोभा और शरीर की सुषमा से सचालित होता है। प्रकृति की शोभा में ऋतु-वर्णन अपने विविध रूपकों में अंकित रहता है और शरीर की सुषमा में नख-शिख और शिख-नख का सौन्दर्य अनेक उपमानों में घटित किया जाता है। संयोग और वियोग की अनेक परिस्थितियाँ कवियों की प्रतिभा का बल प्राप्त कर कुतूहल और कल्पना से उपस्थित की जाती हैं। संयोग-शृंगार

में विहार, रास और होली की कौतुकमयी अंग-चेष्टाएँ हैं और वाणी में विनोद और परिहासपूर्ण सूक्तियाँ हैं। इस परिहास में व्यंजना का वाण श्लेष और वक्रोक्ति के धनुष पर चढ़कर चंचल चित्त का भी लक्ष्य-वेध कर देता है। वियोग श्रृंगार में विरह-अवधि द्रौपदी का चीर बन जाती है जिसका अंत किसी प्रकार भी दृष्टिगत नहीं होता। स्थायी-भाव रति को इक्तीस संचारी भावों का बल मिल जाता है, और वियोग की प्रत्येक अवस्था कभी ज्वाला के प्रलय-मार्तण्ड में और कभी आँसुओं के पारावार में निमग्न हो जाती है। कभी-कभी तो विरह की ज्वाला शीतकाल में भी गरम लू चलाने में समर्थ होती है और आँसुओं की धारा से यमुना का प्रवाह बढ़ जाता है। कभी आँसुओं की राशि नदी बनकर प्रवाहित होने लगती है और विरहणी सेज को ही नौका बनाकर प्रियतम कृष्ण से मिलने के लिए जाने की वाञ्छा करती है। कभी चातक और पपीहे तिरस्कार के पात्र बनते हैं और कभी उपालम्भ के भय से संदेश-वाहक पथिकों के मार्ग ही बदल जाते हैं। किन्तु यह प्रायः देखा जाता है कि संयोग-श्रृंगार इन्द्रियों की पुकार है और वियोग-श्रृंगार में आत्मा की याचना है। इन्द्रियों की पुकार सीमित है, आत्मा की याचना असीम है। प्रथम में वाह्य जगत तथा नख-शिख का वर्णन रहता है, द्वितीय में अन्तर्जगत और वेदना की गहरी से गहरी अनुभूतियों का आलेखन रहता है। प्रथम में एक क्षण की आतुरता है, द्वितीय में दिनों, महीनों, वर्षों और युगों का चीत्कार रहता है। इसीलिए संयोग-श्रृंगार अपनी मात्रा में सापेक्ष्य दृष्टि से वियोग-श्रृंगार से कम है। कवियों को भी अपनी प्रतिभा के प्रकाश का क्षेत्र संयोग-श्रृंगार की अपेक्षा वियोग-श्रृंगार में ही अधिक मिला है। ये समस्त चित्रण सौंदर्य की अनुभूति से ओत-प्रोत हैं और ये ही भावों और भाषा के सहारे कला की समस्त रूप-राशि हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। नरेशों और राज्याधिपतियों का सहारा पाकर कवि-गण चमत्कार और विनोद के लिये ऐंद्रियिकता का रंग प्रखर करते हैं और सबेलों की मनोवृत्ति को सन्तुष्ट कर धन और वैभव के

अधिकारी बन जाते हैं। कवि तो नरेश को इसीलिये आशीर्वाद देता है कि उसके राज्य में कवि महोदय स्वयं 'राज्य-सा' करते हैं।

किन्तु जब नरेशों की विलास-निद्रा भंग होती है और आक्रमण-कारियों का आधिपत्य यहाँ होने पर जीवन की सुविधाओं की आवश्यकता ज्ञात होती है तब विदेशी-शासन अपने साथ जो सभ्यता और परम्परा लाता है उसका प्रभाव साहित्य पर पड़ने लगता है। जीवन भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर होता है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। विज्ञान का विकास होता है। नये-नये आविष्कार होते हैं और जनता विदेशी शासन में अपने धर्म और अपनी संस्कृति के पुरातन संस्कार खोने लगती है। नवीन-नवीन विषयों में अन्वेषण का कार्य प्रारम्भ हो जाता है और जीवन में मनुष्य के ज्ञान की जितनी दिशायें हो सकती हैं, उन पर साहित्य का सृजन होने लगता है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में अर्थशास्त्र, विज्ञान और राजनीति के नवीन-नवीन दृष्टिकोण से परिवर्तन एवं परिष्करण होने लगता है और जीवन में सुख, सुविधा और विजय प्राप्त करने के लिए विविध वर्गों में संघर्ष प्रारम्भ होता है। संक्षेप में ज्ञान सहस्र-मुख होकर विराट रूप धारण करता है और साहित्य उसका अनुसरण करने लगता है।

यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास के इस अनुशीलन को संवतों में काल-क्रम से विभाजित किया जाय तो निम्न प्रकार से इतिहास की रूप-रेखा निर्धारित होती है :—

१. सन्धि-काल—(जिसमें अपभ्रंश और जन-भाषा की सन्धि में विविध धार्मिक सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन हुआ है) संवत् ७५० से प्रारम्भ होता है।

२. चारण-साहित्य काल—(जिसमें चारणों ने स्वदेशाभिमानी नरेशों की प्रशस्तियाँ लिखी हैं) संवत् १००० से प्रारम्भ होता है।

३. प्रेम-कथा काल—जिसमें आदर्श प्रेम की लोकरंजनी कथायें हैं) संवत् ११०० से प्रारम्भ होता है।

४. भक्ति-काल—(जिसमें अध्यात्मवाद देशव्यापी आन्दोलन का रूप लेता है) संवत् १३०० से प्रारम्भ होता है।

५. कला-काल—(जिसमें भक्ति शृंगार में परिणत होती, है) संवत् १७०० से प्रारम्भ होता है।

६. प्रबुद्ध-काल—(जिसमें ज्ञान के विविध क्षेत्रों में विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति जाग्रत होती है और जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों पर साहित्य का सृजन होता है) संवत् १९०० से प्रारम्भ होता है।

इन कालों का निर्धारण किसी प्रवृत्ति-विशेष की प्रधानता के कारण ही किया गया है, यों तो किसी भी काल में एक से अधिक प्रवृत्तियों से उत्पन्न साहित्य का निर्माण भी हुआ है। फिर कोई विशिष्ट काल परवर्ती काल के आने पर समाप्त नहीं हो जाता, उसकी प्रवृत्ति तो किसी न किसी अंश में चलती ही रहती है। अन्तर केवल यही हो जाता है कि वह परवर्ती काल में आने वाली प्रवृत्ति के समक्ष गौण हो जाती है, फलस्वरूप प्रधान प्रवृत्ति के कारण ही परवर्ती काल का दूसरा नामकरण हो जाता है। इस प्रकार यह काल-विभाजन कमला नेहरू रोड या प्रयाग स्ट्रीट की भाँति किसी निश्चित सीमा पर समाप्त नहीं होता जहाँ से कोई दूसरी रोड या स्ट्रीट प्रारम्भ होती है। एक काल दूसरे काल में गंगा और यमुना के बीच अंतःसलिला सरस्वती के प्रवाह की भाँति चलता रहता है। यह काल-विभाजन तो केवल हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन की सुविधा के लिए ही निर्धारित है। यों साहित्य का इतिहास आकाश-गंगा की भाँति अविभाज्य है जिसमें सहस्रों नीहारिकाएँ तीव्र और मन्द ज्योति से अपना-अपना आकाश-मंडल बनाकर चमक रही हैं।

प्रस्तुत संग्रह

हिन्दी कविता का प्रतिनिधि-संग्रह प्रस्तुत करते समय सम्पादक के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। हिन्दी के आदि काल में जो रचनाएँ हुई हैं, उनमें या तो काव्यगत सौन्दर्य का अभाव है, या

उनकी भाषा साधारण पाठकों के लिए दुर्बोध है। इसी कारण इस संग्रह में आदिकाल की कोई भी रचना नहीं रखी गई है।

कबीर के आविर्भाव के साथ ही हिंदी साहित्य में एक नवीन आंदोलन प्रारम्भ होता है। कबीर समस्त निर्गुण-सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं। भक्ति-युग में हिन्दी कविता का प्रवाह चार-प्रमुख धाराओं में विभाजित हो गया। संत या निर्गुण-काव्य-धारा, प्रेमाख्यानक-काव्य-धारा, रामभक्ति-धारा तथा कृष्णभक्ति-धारा। इन धाराओं के प्रतिनिधि कवि हैं: कबीर, जायसी, तुलसीदास, सूरदास और रसखान। इनके अतिरिक्त भक्तिकाल के दो प्रमुख कवि मीराँबाई तथा केशवदास हैं। इन सभी कवियों की रचनाओं में काव्यगत सौन्दर्य तो है ही, वे नैतिक भावनाओं के उत्थान में भी सहायक हैं। भक्ति-युग का सबल साहित्य आज के मानव का पथ-निर्देशन करने में समर्थ है।

रीतिकाल की रचनाएँ काल-प्रधान हैं। अधिकांश कवियों की काव्य-कृतियाँ रस, अलंकारमय ही हैं। रीति-युग से विद्यार्थियों को परिचित कराने के लिए भूषण कवि की रचनाओं को स्थान दिया गया है।

प्राचीन कविता और आधुनिक कविता के लगभग बराबर पृष्ठ रखे गये हैं। भारतेन्दु जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का दिशा-दर्शन किया और स्वदेश-प्रेम और चरित्र की महत्ता का समावेश हिन्दी कविता में किया। भारतेन्दु के समकालीन कवियों में अन्य कोई कवि ऐसा नहीं है, जिसने सबल साहित्य का प्रणयन किया हो। उनके बाद के ब्रजभाषा कवियों में रत्नाकर जी का प्रमुख स्थान है। उनकी रचनाओं में भाव-सौन्दर्य और कलात्मकता का समन्वय हुआ है।

द्विवेदी-युग के कवियों में श्री मैथलीशरण गुप्त का प्रमुख स्थान है। उन्होंने हिन्दी साहित्य में अनेक परिवर्तन देखे हैं, और उनके अनुरूप रचनाएँ की हैं। गुप्त जी की कृतियों में 'साकेत' का विशिष्ट महत्त्व है। प्रस्तुत संग्रह में उसी अमर कृति से कुछ अंश लिए गए हैं।

आधुनिक युग के अन्य प्रमुख कवि हैं : अयोध्यासिंह उपाध्याय, जयशंकर 'प्रसाद', निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा और दिनकर। निराला जी की रचनाएँ उत्कृष्ट होते हुए भी इंटरमीडिएट के विद्यार्थियों के लिये कुछ क्लिष्ट हो जाती हैं, अतः उन्हें इस संग्रह में स्थान नहीं दिया जा सका है।

आधुनिक युग के कवियों की प्रतिनिधि रचनाएँ इस संग्रह में संग्रहीत हैं। उनमें राष्ट्र-प्रेम, नैतिक भावना, भाव तथा कला-सौन्दर्य सभी कुछ है। इन रचनाओं के अध्ययन से विद्यार्थीगण हिन्दी काव्य-धारा से तो परिचित होंगे ही, उनका मानसिक स्तर भी ऊँचा उठेगा और उन्हें चरित्र-निर्माण के लिए प्रेरणा मिलेगी।

कवियों की काव्य-प्रेरणा को स्पष्ट करने के लिए संक्षिप्त भूमिका भी दे दी गई है और कवियों की भाषा-शैली का विवेचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।

—संपादक

१. कबीरदास

जन्म-सम्वत् : १४५६ मृत्यु-सम्वत् : १५७५

काव्य-प्रेरणा

कबीर सच्चे अर्थ में मानव-जीवन के कवि और मीमांसक थे। उनका जन्म ऐसे युग में हुआ था जब एक ओर नाथ और सिद्ध-साधक अपनी अटपटी और रहस्यमयी वाणी में अपने 'अलख' और उसके निराकार रूप का राग अलाप रहे थे और अपने चमत्कारों द्वारा जनता को प्रभावित कर रहे थे, दूसरी ओर वैष्णव अपने कर्मकाण्ड और बाहरी अत्याचारों को ही जीवन का सत्य समझ बैठे थ। अनेक सम्प्रदाय और उनके उप-सम्प्रदाय बन गये थे। कबीर ने अपने युग को परखा, वास्तविक परिस्थितियों को समझा। कर्मकाण्ड और बाहरी आडम्बरों को दूर रख कर उन्होंने गुरु-कृपा से सच्चे मार्ग को पहिचाना और सहज-समाधि की स्थिति प्राप्त की जिसमें किसी प्रकार का कष्ट सहने की आवश्यकता नहीं थी। कबीर पूर्ण सत्यवादी थे, वे स्वाधीन चित्रकार थे—अपनी आत्मा के आज्ञाकारी सेवक थे। अपनी भावनाओं को उन्होंने बिल्कुल साफ ढंग से कह दिया है। कविता उनके भावों की अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र थी—दीपक की भाँति निर्विकार भाव से अन्धकार मिटाना ही उसका लक्ष्य था। उन्होंने हिन्दी काव्य के शैशव में उसे शक्ति दी, भाषा दी और एक शैली दी जो राजस्थान के चारण कवियों से भिन्न थी—और बाद में, जिसका अनुकरण हिन्दी के अन्य श्रेष्ठ कवियों ने किया। जन-साधारण की भाषा में उन्होंने धर्म के गम्भीर तत्वों का जैसा निरूपण किया है, वैसा (महाकवि तुलसीदास के अतिरिक्त) अन्य किसी कवि से सम्भव न हो सका। कबीर धर्म और समाज में

नूतन क्रान्ति करने वाले हिन्दी साहित्य के अमर महाकवि है। पवित्र जीवन की सात्विकता ही धर्म है, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-व्रत आदि सब व्यर्थ हैं, अपनी आडम्बरहीन किन्तु सच्ची अनुभूति से सम्पन्न कविता में उन्होंने यही उपदेश किया है।

जीवन-वृत्त

कबीर का जन्म एक जुलाहा परिवार में सम्वत् १४५६ वि० में मगहर में हुआ था। इनके जन्म के विषय में एक किम्वदन्ती प्रचलित है कि वे रामानन्द के आशीर्वाद से एक ब्राह्मण-विधवा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। हो सकता है कि कबीर पर रामानन्द के प्रभाव के कारण ही बाद में यह किम्वदन्ती प्रचलित हो गयी हो। नयी खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि जिस परिवार में कबीरदास का जन्म हुआ था वह कुछ पीढ़ियों पूर्व ही मुस्लिम धर्म में दीक्षित हुआ था और वह परिवार नाथों और योगियों से प्रभावित भी था; फलस्वरूप यह परिवार वर्णाश्रम धर्म में विश्वास नहीं रखता था। इस वातावरण की छाप कबीर की कविता पर है।

कबीर बाद में काशी में आकर रहने लगे थे और यहीं उन्होंने रामानन्द से दीक्षा ली। उन्हें रामानन्द का शिष्य माना जाता है, पर उनके सिद्धान्त रामानन्द से भिन्न थे। कबीर का विवाह भी हुआ था, ऐसा कहा जाता है। 'लोई' नाम की स्त्री, जिसे एक बनखण्डी बैरागी ने लोई (ऊनी चादर) में लिपटा हुआ पाया था, उनकी पत्नी थी जिससे एक पुत्र 'कमाल' भी उत्पन्न हुआ था। एक जगह कबीर ने कहा है:—

मेरी बहुरिया कौ धनियाँ नाउँ। लै राखो रमजनिया नाउँ।

इसी आधार पर उनके दो विवाह होने की कल्पना करते हैं। यह संभव है कि लोई और धनिया एक ही हों। 'कमाल' का उल्लेख कबीर ने भी किया है।[1] काशी में ही कबीर का रचना-काल बीता। उन्होंने भ्रमण

---

[1] बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।

भी किया और व्यावहारिक जीवन से प्रेरणा और शिक्षा ग्रहण की। उनके शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। कट्टर मुसलमान इन्हें द्वेष की दृष्टि से देखते थे। सिकन्दर लोदी ने इन्हें कष्ट दिया था। अन्त में मगहर में ही इनकी मृत्यु (सम्वत् १५७५ वि०) में हुई।

काव्य दृष्टि

कुछ विचारकों की धारणा है कि कबीर केवल समाज-सुधारक थे, कवि नहीं। यह धारणा उनके काव्य को गम्भीर दृष्टि से अध्ययन न करने के कारण ही है। दूसरे, उनके धार्मिक और कविता-सम्बन्धी सिद्धान्त इतने स्वतन्त्र और नये हैं कि उन्हें किसी संकुचित घेरे में रखना सम्भव नहीं है। उन्होंने जीवन को सूक्ष्म और गम्भीर दृष्टि से देखा था। उनकी कविता में हृदय से निकले हुए भाव हैं, जिनमें न तो बाह्याडम्बर है और न कृत्रिम सजावट। उसमें अनुभूति की सच्चाई और तीव्रता है जिसकी अभिव्यक्ति वे सफलतापूर्वक कर सके हैं। रहस्यवादी अनुभव की संकेतात्मक शब्दों में अभिव्यक्ति यदि साधारण पाठक के लिए बोधगम्य न हो तो इसमें कबीर का क्या दोष? उनकी नीति-सम्बन्धी रचनायें सरल और सुस्पष्ट हैं।

कबीर जन-जीवन के गायक थे। उन्होंने युग की स्थिति देखी, उसकी विषमता को समझा और अन्धविश्वासों को समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाया। जाति-पांति के पचड़े को वे अनावश्यक समझते थे। स्नान, जप-तप, चन्दन लगाना आदि कृत्यों को वे ढोंग मानते थे, मुल्ला का बाँग देना इन्हें अजीब लगता था। हिन्दू और मुसलमान दोनों के दोषों की उन्होंने बुराई की और आन्तरिक पवित्रता तथा सर्वव्यापी 'राम' (जो दशरथ-सुत राम न थे) को अपने घट के भीतर ही ढूंढ़ने का उन्होंने उपदेश दिया, सहज समाधि का मर्म बताया जिसमें न तो आँख-कान ही बन्द करने का सवाल उठता है और न कोई कष्ट उठाना पड़ता है, खुले नयन सत्य और व्यावहारिक धर्म को पहचानना ही जिसके आनन्द का

मूल है। वैराग्य या गार्हस्थ्य जीवन का त्याग ईश्वर प्राप्ति का अनिवार्य अंग नहीं है। ये जीवन को स्वीकार करते हैं और लोक-जीवन में रहते हुए भी साधना को सम्भव मानते हैं। उन्होंने अपना महान् सन्देश सीधी साधी बोलचाल की भाषा में दिया है, जो जीवन के अनुभवों को साथ लिये सीधे हृदय में प्रवेश कर जाता है। इस महान् संदेश को सौन्दर्यगत दृष्टिकोण से देने के कारण वे महान् कवि की संज्ञा से विभूषित हैं।

सिद्धान्त और साधना

कबीर के आराध्य निराकार और साकार से परे हैं। सगुण की पूजा की जाती है और निर्गुण का नाम लिया जाता है; किन्तु ध्यान के योग्य सगुण और निर्गुण से परे होने वाले परब्रह्म ही हैं। वह परब्रह्म न किसी का पुत्र है, न पिता, वह त्रिगुणों की माया से परे है। उनके ईश्वर का रूप पैगम्बरी खुदावाद से भिन्न है। वह साकार भी है (घुंघुर बाँधों सुन्दर पावों), वह निराकार भी है; दूर है, फिर भी हमारे अत्यन्त निकट है (है हजूर कत दूर बतावों), वह न द्वैत है, न अद्वैत, वह न सगुण है और न निर्गुण। संख्या और गुण की सीमाएँ उसे बाँध नहीं सकतीं। वह सर्व-व्यापी है, इसलिए निर्गुण नहीं है, त्रिगुण उसके गुणों की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते, अतः वह उस अर्थ में सगुण नहीं है जिस अर्थ में साधारणतः प्रयुक्त किया जाता है।

ब्रह्म के सच्चे स्वरूप को साधारणतः पहचाना या जाना नहीं जा सकता। केवल वाक्य-ज्ञान इसमें समर्थ नहीं—वेद और पुराणों के लिए भी वह अगम है। अविद्या-रूपी माया साधक के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है। इस माया को सद्गुरु की कृपा से दूर किया जा सकता है। उसे 'हद्द छाड़ि बेहद' में जाना पड़ता है, जहाँ आनन्द-रस की निरन्तर वृष्टि होती रहती है। यही आनन्द कबीर का प्राप्य है। माया के मिथ्या भ्रम को छोड़कर विशुद्ध मन से, निर्गुण ब्रह्म से, प्रेममय भक्ति करना एकमात्र साधन है।

शैली-सौन्दर्य

कबीर के समाज-सुधारक व्यक्तित्व को तो सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं, किन्तु वे कबीर की काव्यगत विशेषताओं की ओर प्रायः कम ही ध्यान देते हैं। काव्य के दो पक्ष होते हैं : अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष। अनुभूति की तीव्रता और सत्यता के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। कबीर के काव्य का अभिव्यक्ति पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं। भाव-प्रवणता के कुछ उदाहरणों से ही उनकी कला-कुशलता का परिचय मिल जायगा।

सुपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूं डरपता, मत सुपना हो जाय॥
साईं केरे बहुत गुन, लिखे जो हिरदय माँहि।
पिऊँ न पानी डरपता, मत वे धोए जाँहि॥
नैनों अन्तर आव तू, नैन छापि तोहि लेहुँ।
ना मैं देखौं और को, न तोहिं देखन देहुँ॥

उनकी उलटवासियों का उक्ति-चमत्कार अत्यन्त कुशल है। हंस, सरोवर आदि परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग उनके काव्य में सर्वत्र मिलेगा। अन्योक्ति, यमक, अतद्‌गुण, विरोधाभास के बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं और अनुप्रास की छटा तो अधिकांश पदों और साखियों में विद्यमान है। उपमा और रूपक तो अनगिनत हैं।

भाषा

कबीर की भाषा पूरबी हिन्दी या अवधी है, किन्तु उसमें ब्रज और भोजपुरी के प्रयोग के अतिरिक्त पंजाबी के प्रयोग भी हैं। आचार्य शुक्ल जी ने कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा है, किन्तु यह अस्पष्ट शब्द उनकी भाषा के लिए प्रयुक्त करना उचित नहीं लगता। कबीर की भाषा जन-भाषा है, उसमें न तो कृत्रिमता है और न उलझन। संस्कृत शब्दों का प्रयोग कम हुआ है। उनके भाव सरल भाषा में जन-साधारण के उपयोग के लिये व्यक्त हुए हैं और सरलता से कंठस्थ हो जाते हैं।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में कबीर के प्रतिनिधि साखी और शब्द दिये गये हैं। सत्‌गुरु की महत्ता-सम्बन्धी पद कबीर की गुरु-सम्बन्धी भावना को समझाने के लिए अनिवार्य हैं। हृदय की शुद्धि के बाद मूर्ति-पूजा की आवश्यकता दूर हो जाती है। हिन्दू, मुसलमान या ब्राह्मण-शूद्र में वे कोई भेद नहीं मानते थे। दोनों ही समान रूप से ब्रह्म से उत्पन्न किए गए हैं।

कबीर के ग्रंथ

यों तो कबीर के अनेक ग्रंथ कहे जाते हैं जो उनके सम्प्रदाय 'कबीरपन्थ' में प्रचलित हैं, किन्तु उनका प्रमुख ग्रन्थ है 'बीजक'। इसमें शब्दों (पदों) के साथ अनेक दोहे और चौपाइयाँ हैं जिन्हें 'रमैनी' का नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त उनकी अनेक साखियाँ (दोहे) और शब्द (पद) प्रचलित हैं, जिनमें कबीर के अनेकानेक उपदेश जीवन की अच्छी अनुभूति के साथ दिये गए हैं।

कबीर की साखी

(इन्द्रियों के प्रभाव से मन में विकार आता है और वह ईश्वर की ओर नहीं जाता। इसलिए सतगुरु में ऐसी शक्ति है कि वह इन्द्रियों की वासना दूर कर हृदय को शुद्ध कर देता है। तब ईश्वर की प्राप्ति सहज ही हो जाती है। दाता दान से बड़ा है इसलिये ईश्वर को प्राप्त कराने वाला गुरु ईश्वर से भी बड़ा है।)

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो मिलाय ॥१॥
यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तौ भी सस्ता जान ॥२॥
सतगुरु दीनदयाल है, दया करो मोहि आय।
कोटि जनम का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥३॥

गुरु कुम्हार सिष कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़े खोट ।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट ॥४॥
सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब वनराय ।
सात समुंद की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय ॥५॥
कबिरा ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और ।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर ॥६॥
तीन लोक नौ खण्ड में, गुरु ते बड़ा न कोई ।
करता करे न करि सके, गुरू करै सो होई ॥७॥

सुमिरन

(प्रभु के नाम-स्मरण में सब संसार को भूल कर प्रभु में ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । काठ की माला में काठ और सुमेरु की उलझने हैं । साँस की माला ही सर्वश्रेष्ठ है, इसी माला के फेरने से मन ईश्वर में लीन हो जाता है ।)

दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करैं, तो दुख काहे होय ॥८॥
सुमिरन सों मन लाइये, जैसे नाद कुरंग ।
कह कबीर बिसरे नहीं, प्रान तजे तेहि संग ॥९॥
सुमिरन सुरत लगाइ के, मुख ते कछू न बोल ।
बाहर के पट देइ के, अन्दर के पट खोल ॥१०॥
माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर ।
करका मनका डारि दे, मन का मनका फेर ॥११॥
कबिरा माला मनहिं की, और संसारी भेख ।
माला फेरे हरि मिलै, गले रहँट के देख ॥१२॥
कबिरा माला काठ की, बहुत जतन का फेर ।
माला स्वाँस उसाँस की, जामें गांठ न मेर ॥१३॥

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिशि फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं ॥१४॥
आज कहै कल्ह भजूंगा, काल कहै फिर काल।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल ॥१५॥

मन

(मन का पवित्र होना ही ईश्वर-प्राप्ति की पहली आवश्यकता है। इसी मन से तृष्णा बढ़ती है और माया-मोह की आग में मनुष्य को जलना पड़ता है। अतः मन को अपने वश में रखकर उसे पवित्र करना आवश्यक है।)

बाजीगर का बन्दरा, ऐसा जिउ मन साथ।
नाना नाच नचाय के, राखै अपने हाथ ॥१६॥
बहुतक पीर कहावते, बहुत करत हैं भेस।
यह मन कहर खुदाय का, मारै सो दरवेस ॥१७॥
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
परमातम को पाइये, मन ही के परतीत ॥१८॥
मन पाँचों के बस परा, मन के बस नाहिं पाँच।
जित देखूं तित दौं लगी, जित भागूं तित आँच ॥१९॥
गो-धन, गज-धन, बाजि-धन, और रतन-धन-खान।
जब आवै सन्तोष-धन, सब धन धूरि समान ॥२०॥

ईश-स्तुति

(ईश्वर सर्वशक्तिमान है। वह अपनी कृपा से मनुष्य को संसार के कष्टों से मुक्त कर सकता है। संसार की समस्त वस्तुएँ अनित्य हैं, वही एक नित्य है, अतः वही ईश्वर वन्दनीय है।)

साहिब तुमहि दयाल हौ, तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाज कौ, सूझै और न ठौर ॥२१॥

साइँ तेरे बहुत गुण, अवगुण कोई नाँहि ।
जो दिल खोजौं आपना, सब अवगुण मोहि माँहि ॥२२॥
साहब तुम जनि बीसरो, लाख लोग मिल जाँहि ।
हमसे तुम्हरे बहुत हैं, तुम सम हमरे नाँहि ॥२३॥
मैं अपराधी जनम का, नख सिख भरा विकार ।
तुम दाता दुख भंजना, मेरा करो उबार ॥२४॥
सुरत करौ मेरे साइयाँ, हम हैं भव-जल माँहि ।
आपहि हम बह जायेंगे, जो नहिं पकड़ो बाँहि ॥२५॥
अन्तरयामी एक तू, आतम को आधार ।
जो तुम छोड़ो हाथ तौ, कौन उतारे पार ॥२६॥
भवसागर भारा भया, गहरा अगम अगाह ।
तुम कृपालु करुना करो, तब पाऊँ कछु थाह ॥२७॥

सर्व-व्यापकता

(ईश्वर संसार के कण-कण में वर्तमान है । अतः वह हृदय में भी है । फिर मीलों तीर्थ-यात्रा कर ईश्वर को खोजने का तर्क ही व्यर्थ है । संसार में विभिन्न सम्प्रदायों ने ईश्वर की विविध कल्पनाएँ की हैं किन्तु ईश्वर तो एक है और वह समान रूप से सब में व्याप्त है । केवल सच्चे प्रेम से ईश्वर की प्राप्ति हो जायगी ।)

तेरा साइँ तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास ।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़ै घास ॥२८॥
जा कारन जग ढूँढ़िया, सो तो घट ही माँहि ।
परदा दीया भरम का, तातैं सूझै नाँहि ॥२९॥
समझै तौ घर में रहे, परदा पलक लगाय ।
तेरा साहब तुज्झ में, अनत कहूँ मत जाय ॥३०॥

जेता घट तेता मता, बहु बानी बहु भेख।
सब घट व्यापक ह्वै रहा, सोई आप अलेख ॥३१॥

भूला-भूला क्या फिरै, सिर पर बँधि गई बेल।
तेरा साईं तुज्झ में, ज्यों तिल माहीं तेल ॥३२॥

ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सके तो जागि ॥३३॥

ज्यों नैनन में पूतरी, त्यों खालिक घट माहिं।
मूरख प्रेम न जानहीं, बाहर ढूँढ़न जाहिं ॥३४॥

प्रेम

(सच्चे प्रेम का मूल्य जीवन का बलिदान है। यह प्रेम रोम-रोम में निवास करता है। उसे कहने की आवश्यकता नहीं। वह तो एक-सा रह कर जीवन में ही ईश्वरीय-निष्ठा उत्पन्न कर देता है।)

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुईं धरै, तब पैठे घर माहिं ॥३५॥

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचे, सीस देइ लै जाय ॥३६॥

प्रेम पियाला जो पियै, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेम का लेय ॥३७॥

छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावे सोय ॥३८॥

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिनु प्रान ॥३९॥

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास ॥४०॥

यह तत वह तत एक है, एक प्रान दुइ गात।
अपने जिय से जानिये, मेरे जिय की बात ॥४१॥

प्रीति तो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुख की सरधा नाहिं ॥४२॥

चेतावनी

(यह संसार क्षणिक और नश्वर है। माया-मोह के जाल में पड़कर जो लोग यह जीवन नष्ट कर देते हैं, उनका कल्याण कभी नहीं हो सकता। इसलिये हमें जीवन में सत्कर्म करना आवश्यक है नहीं तो बाद में पछताना ही हाथ रह जाता है।)

कबिरा गर्व न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानौं कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस ॥४३॥

झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥४४॥

कुसल कुसल ही पूछते, जग में रहा न कोय।
जरा मुई ना भय मुआ, कुसल कहाँ से होय ॥४५॥

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ॥४६॥

रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवाया खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥४७॥

आछे दिन पाछे गये, गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गई खेत ॥४८॥

शब्द

[इन शब्दों में कबीर ने साम्प्रदायिकता के विरोध में अपनी आवाज उठाई है। वे कर्मकाण्ड (तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज) को सारहीन समझते हैं।

माया के प्रपंच में सभी संसार उलझा हुआ है। इस माया का परित्याग कर सच्ची भक्ति के द्वारा ही मनुष्य ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है। वह ईश्वर वेद और कुरान में नहीं है। वह तो आदि 'अक्षर' है जिसका क्षरण (नाश) नहीं होता, वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। इन्द्रियों के प्रभाव से रहित होकर जो उसे अनुभव कर सकते हैं, उन्हीं को इस ईश्वर का ज्ञान हो सकता है। संक्षेप में उसका आनन्दपूर्ण अनुभव 'गूंगे का गुड़' है जो स्वाद का अनुभव तो कर सकता है किन्तु उसे कह नहीं सकता।]

(१)

सन्तो, राह दोऊ हम डीठा।
हिन्दू तुरक हटा नहिं माने स्वाद सबन को मीठा॥
हिन्दू बरत एकादसि साधैं दूध सिंघाड़ा सेती।
अन को त्यागैं मन नहिं हटकै पारन करैं सगौती॥
रोजा तुरुक नमाज गुजारैं बिसमिल बाँग पुकारैं।
उनको भिस्त कहाँ तैं होइहैं साँझै मुरगी मारैं॥
हिन्दू दया मेहर को तुरकन दोनों घट सों त्यागी।
वै हलाल वै झटका मारैं आगि दुनों घर लागी॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है सतगुरु इहैं बताई।
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो राम न कहेउ खोदाई॥

(२)

साधो भजन भेद है न्यारा।
कर माला मुद्रा के पहिरैं चन्दन घसे लिलारा।
मूड़ मुड़ाये जटा रखाये अंग लगाये छारा॥
का पानी पाहन के पूजैं कन्द मूल फरहारा।
कहा नेम तीरथ व्रत कीन्हें जो नहीं तत्त विचारा॥
का गोये का पढ़ि दिखलाये का भरमें संसारा।
का संध्या तरपन के कीन्हें का षटकर्म अचारा॥
जैसे बधिक ओट टाटी के हाथ लिये विष चारा।

ज्यों वक ध्यान धरै घट भीतर अपने अंग विकारा ॥
दै परचै स्वामी होइ वैठे, करै विषय व्यवहारा ।
ज्ञान ध्यान को मरम न जानै वाद करै निःकारा ॥
फूँके कान कुमति अपनी से वोझ लियो सिर भारा ।
विन सतगुरु के केतिक वहिगे लोग लहर की धारा ॥
गहिर गंभीर पार नहिं पावै खंड अखंड से न्यारा ।
दृष्टि अपार चलन को सहजै करै भस्म कै जारा ॥
निर्मल दृष्टि आतमा जाकी साहेव नाम अधारा ।
कहत कबीर वही जन आवै 'तैं' 'मैं' तजे विकारा ॥

(३)

माया महा ठगिनि हम जानी ।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी वानी ॥
केशव के कमला ह्वै वैठी शिव के भवन भवानी ।
पंडा के मूरति ह्वै वैठी तीरथ में भई पानी ॥
योगी के योगिन ह्वै वैठी राजा के घर रानी ।
काहू के हीरा ह्वै वैठी काहू के कौड़ी कानी ॥
भक्तन के भक्तिन ह्वै वैठी व्रह्मा के व्रह्मानी ।
कहे कवीर सुनो हो सन्तो यह सव अकथ कहानी ॥

(४)

वावा अगम अगोचर कैसा,
ताते कहि समझाऊँ ऐसा ।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई ।
सैना-वैना, कहि समझाऊँ, गूँगे का गुर भाई ॥
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, विनसै नाहिं नियारा ।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पंडित करै विचारा ॥
विन देखे परतीत न आवै, कहे न कोउ पतियाना ।
समझा होइ सो सव हैं चीन्हें, अचरज होय अयाना ॥

कोई ध्यावै निराकार को, कोइ ध्यावैं साकारा ।
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जाने जाननहारा ॥
काजी कथैं कतेब कुराना, पंडित वेद पुराना ।
वह अक्षर तो लखो न जाई, मात्रा लगै न काना ॥
नादी वादी पढ़ना गुनना, वहु चतुराई खीना ।
कह कबीर सो परै न परलै, नाम भक्ति जिन चीना ॥

२. सूरदास

जन्म-सम्वत् : १५४२ वि० मृत्यु-सम्वत् : १६२० वि०

काव्य-प्रेरणा

मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के साथ ही कविता राजाश्रय से वंचित हो गयी। जन-जीवन की जो विचार-धारा दो-तीन शताब्दियों से अन्दर ही अन्दर शक्ति-संचय कर रही थी, वह विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में प्रमुख धारा के रूप में उभर आई। इस मध्य-युगीन साहित्य में भक्ति का जो तीव्र आवेग है, उसका जन्म कई शताब्दियों पूर्व दक्षिण में आलवार सम्प्रदाय के रूप में हो चुका था और रामानन्द ने उसकी प्रतिष्ठा उत्तर में कर दी थी। इस महान् आन्दोलन को राजनीतिक पराभव से उत्पन्न समझना उन भक्तों के साथ अन्याय करना है जिन्होंने अपने को साधना की कसौटी पर कसा था। यह तो सत्य ही है कि उस समय साहित्य जनता के निकट (चरित्र और आदर्श दोनों ही क्षेत्रों में) आ गया था। सूरदास इस आन्दोलन के महान् नायक थे, गुजरात (नरसी), राजस्थान (मीरां), महाराष्ट्र (नामदेव)—भारत के सभी भाग इस आन्दोलन से प्रभावित हुए थे।

जीवन-वृत्त

सूरदास का जन्मस्थान आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर स्थित रुनकता (रेणुका क्षेत्र) नामक ग्राम में हुआ था। इनके जन्मान्ध होने के बारे में मतभेद है। एक कथा यह है कि एक वार यह किसी स्त्री पर मुग्ध हो गये थे और प्रायश्चित-स्वरूप उसी स्त्री से सुई मँगा कर उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थीं। यह स्पष्ट है कि विविध रूप-रंगों का सूक्ष्म

चित्रण करने वाला व्यक्ति जन्मान्ध नहीं हो सकता, सम्भवतः इसी कारण उनके बारे में यह कथा चल पड़ी है। सूरदास गऊघाट पर रहकर भजन करते थे और वहीं उन्हें वल्लभाचार्य ने श्रीमद्भागवत को भाषा में गाने का आदेश दिया, परिणामस्वरूप इन्होंने "सूरसागर" की रचना की। इनके पिता का नाम रामदास था और वे सारस्वत ब्राह्मण थे। चन्दबरदाई के वंशज इन्हें अपने वंश का बताते हैं, पर यह अप्रामाणिक है।

काव्य-परिचय

सूरदास हिन्दी साहित्य के इने-गिने प्रथम श्रेणी के कवियों में से हैं। इन्होंने सम्पूर्ण जीवन का चित्रण न करते हुए भी अपने आराध्य श्रीकृष्ण के बाल और किशोर जीवन के सीमित क्षेत्र को ही चुना है। भक्ति और भावना की जिस सीमा तक ये पहुँच गये हैं, वहाँ तक बहुत कम कवि ही पहुँच सके हैं। उन्होंने बाल-जीवन का अत्यन्त सफल चित्रण किया है। कृष्ण और गोपियों को यदि साधारण और लौकिक रूप में भी देखा जाय तो भी महाकवि सूरदास के भाव-चित्र बड़े मर्मस्पर्शी हैं। बीच में अलौकिकता का केन्द्रित प्रकाश जीवन को आनन्दमय कर देता है।

सूरदास के कृष्ण साधारण कृष्ण न थे और न उनकी गोपियाँ साधारण स्त्रियाँ ही थीं। वे विष्णु के अवतार और वैकुण्ठ-स्थित कमलापति नारायण से भी श्रेष्ठ हैं, उनकी मुरली की धुन सुन कर रमा और नारायण भी मुग्ध हो जाते हैं। यद्यपि अधिकांश स्थलों पर वे एक गोप-कुमार के रूप में ही सामने आते हैं पर वे हैं भक्त-वत्सल, अघासुर, बकासुर, शकटासुर आदि का नाश करने वाले। वे ब्रज और वृन्दावन में जो लीलायें करते हैं, वे उनके "आनन्द" स्वरूप की सहज अभिव्यक्तियाँ हैं।

सूरदास की राधा आनन्दमयी सर्जनात्मक शक्ति हैं। यदि कृष्ण सच्चिदानन्द "आदि पुरुष" हैं तो राधा "आदि प्रकृति"। वे दोनों ही दो शरीर एक प्राण हैं, माया के कारण तथा लीला-सुख के लिये वे अलग-अलग प्रकट हुए हैं। राधा, शेष, महेश, शुकादि मुनियों की स्वामिनी हैं।

भक्ति-भावना

'सूरसागर' के प्रारम्भिक पद दास्य-भावना से युक्त हैं। कुछ लोग इन पदों को उनके वल्लभाचार्य के शिष्य होने के पूर्व का मानते हैं। इन पदों में उन्होंने अपने दोषों को विनम्रतापूर्वक प्रकट किया है। कहीं-कहीं उनका आत्म-विश्वास भी प्रकट हुआ है, जो सभी भक्तों में समान रूप से पाया जाता है। उन्हें विश्वास है कि भक्त-वत्सल नाथ उन्हें अवश्य तारेंगे। माधुर्य और वात्सल्य भक्ति की भी पूर्णता उनके काव्य में मिलती है। वे आचार्य वल्लभ के शिष्य तो थे, किन्तु उनका काव्य किसी भी प्रकार की धार्मिक संकीर्णता से मुक्त है।

सूर के लिये श्रीकृष्ण की कृपा या अनुग्रह ही साध्य है और भक्ति ही उसका एकमात्र साधन है। इससे भक्ति की अनन्यता प्रकट होती है। भक्ति के सामने उन्हें ज्ञान तुच्छ प्रतीत होता है। भगवान के अनुग्रह पर उनका दृढ़ विश्वास है। उनकी भक्ति सच्चे हृदय की पुकार है। इसे "पुष्टिमार्ग" का नाम दिया गया है। कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण-लीला के समस्त रूपों से तन्मयता प्राप्त करनी आवश्यक है। कृष्ण का वियोग जैसा गोपियों को था वैसा यदि भक्त को न होगा तो तन्मयता कैसे प्राप्त हो सकती है?

सूरदास के चित्रण में कृष्ण और गोप-गोपियाँ हैं। गोप-गोपियों के बीच श्रीकृष्ण की अलौकिक और आनन्दमयी लीलायें होती हैं। साधारण चरित्रों का भी चित्रण अत्यन्त सुन्दर है। ये गोप-गोपी कृष्ण के कृपा-पात्र हैं और गोलोक में उनकी कृपा से (जिसका प्रमुख भाव उनका सखा-भाव है) उन्हें आनन्द की प्राप्ति होती है। कृष्ण-भक्त इन्हीं गोप-गोपियों से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।

शैली-सौन्दर्य

जितने सुन्दर और मर्मस्पर्शी भाव और शब्द-चित्र सूरसागर में मिलते हैं, उतने अन्य कवियों की रचनाओं में नहीं हैं। कृष्ण का खेलना, मणिमय

आँगन में उनके कर-कमलों की प्रतिच्छाया पड़ना, उनका मचलना, रूठना और दण्डित होना—इन सबका सजीव चित्र सूर के पदों में है।

सूर के पद गेय हैं। उनमें नाद-सौन्दर्य है। शब्द-चयन अत्यन्त सुन्दर है। उदाहरणार्थ एक पद में "ल" जैसे ललित शब्द का प्रयोग अत्यन्त सफलतापूर्वक हुआ है। यह पंक्ति लीजिये :—

तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुञ्जैं।

उनके पदों में संगठन और एकात्मकता (Unity) है। प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण है, जिसमें शृंगार या वात्सल्य रस, भावना और अनुभूति की लहरों में मधुर शब्द करता हुआ बहता है। आज भी उनके पद अत्यधिक संख्या में गाये जाते हैं।

सूर ने अपने भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम ब्रजभाषा को ही बनाया है। शब्दों की अच्छी जानकारी सूर को थी। प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर अनिवार्य-सा है। संस्कृत के तत्सम-शब्द तुलसी की अपेक्षा कम ही प्रयुक्त हुए हैं। फ़ारसी के प्रचलित शब्दों को उन्होंने अपनाया है। ब्रजभाषा को सूर ने अनुपम सौन्दर्य प्रदान किया है। सूर जैसे कवियों के कारण ब्रजभाषा ने तीन सौ वर्षों से अधिक अपना साम्राज्य स्थापित रखा और आज भी कुछ कवि उस भाषा को काव्य का माध्यम बनाते हैं।

रस

रस-परिपाक की दृष्टि से सूर एक उत्कृष्ट कवि सिद्ध होते हैं। वात्सल्य-रस के तो वे सम्राट थे। अभी कृष्ण बालक ही हैं, माता यह सोचती है कि कब मेरा लाल घुटने के बल चलेगा—कब यह बड़ा होगा—आदि। ऐसे सुन्दर उदाहरण हृदय को स्वाभाविक प्रेरणा से परिपूर्ण कर देते हैं।

शृंगार रस को 'रसराज' कहा गया है। सूरदास में संयोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ-शृंगार ही अधिक है। गोपियों का विरह (भ्रमर-गीत प्रसंग में) अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। उनका विरह-वर्णन केवल चमत्कारिक

और उक्ति-वैचित्र्य-पूर्ण ही नहीं है, उसमें हृदय को छू लेने की क्षमता है, अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति की कुशलता है।

अद्भुत और वीर रस भी कुछ स्थलों पर हैं। बाल-लीला प्रसंग में तो अद्भुत रस कई स्थलों पर है। बालक कृष्ण जब अपना मुख खोलते हैं तो उसमें समस्त सृष्टि दिखाई देती है। जब वे अपने हाथ से पकड़ कर पैर के अँगूठे को मुँह में रखते हैं, तो प्रलय की दशा निकट मालूम देती है। करुणा और हास्य रस अपेक्षाकृत कम हैं। शान्त रस के उदाहरण भी मिल जाते हैं। जहाँ वर्णन में अलौकिकता है वहाँ शान्त रस के बड़े सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। इस प्रकार रस के क्षेत्र में सूर महान् हैं।

अलंकार

सूर ने उत्प्रेक्षा और रूपक का अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। वे अलंकार स्वाभाविक हैं, किसी प्रयत्न से लाये हुये नहीं हैं। यथासंख्य, परिकरांकुर, विभावना, असंगति आदि अलंकारों का प्रयोग बहुत से स्थलों पर किया गया है। उनके उपमान जीवन की घटनाओं से लिये गए हैं जिससे उनकी विस्तृत जानकारी का पता लगता है। इन अलंकारों में दो बातें प्रमुख हैं। एक तो प्रसंगों की वास्तविक अनुभूति हो जाती है, दूसरे सुन्दर शब्द-चित्र उपस्थित हो जाते हैं। इन दोनों गुणों के कारण सूरदास के अलंकार बहुत स्वाभाविक बन गये हैं।

प्रस्तुत संग्रह

प्रस्तुत संग्रह में सूर के विनय, बाल-लीला और विरह-सम्बन्धी पद हैं जिनसे सूरदास के विशाल "सागर" का कुछ परिचय मिल सकता है। रास-लीला-सम्बन्धी पद नहीं रखे गये हैं।

सूरदास के ग्रन्थ

सूरदास का प्रमुख ग्रन्थ 'सूर-सागर' है, जिसके अभी तक लगभग छः हजार पद प्राप्त हो सके हैं। इसमें श्रीमद्भागवत के बारहों स्कन्धों की कथा है, जिसमें दशम स्कन्ध (जिसमें श्रीकृष्ण की कथा है) बड़े विस्तार से लिखा गया है।

'सूर-सागर' के अतिरिक्त उनके दो ग्रन्थ और कहे जाते हैं—'साहित्य लहरी' और 'सूर सारावली'।

बाल-लीला

(१)

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुअन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये ॥
चारु कपोल लोल लोचन छबि गोरोचन को तिलक दिये।
लट लटकन मानो मत्त मधुप गन माधुरी मधुर पिये ॥
कठुला कंठ बज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये।
धन्य "सूर" एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये ॥

(२)

यशोदा हरि पालने झुलावैं।
हलरावैं दुलराइ मल्हावैं जोइ सोइ कछु गावैं ॥
मेरे लाल को आउ निदरिया काहे न आनि सुआवै।
तू काहे न वेगि सी आवे तोको कान्ह बुलावै ॥
कबहुँ पलक हरि मूंद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावैं।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि अति कर कर सैन बतावैं ॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरे गावैं।
जो सुख "सूर" अमर मुनि दुर्लभ सो नन्द भामिनि पावैं ॥

(३)

मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बलि की वेनी ज्यों ह्वैहै लांबी मोटी।
काढ़त गुहत नहावत पोंछत नागिन सी भ्वैं लोटी ॥

काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी।
"सूर" श्याम चिरजीवो दोऊ भैया हरि-हलधर की जोटी॥

(४)

खेलन अब मेरी जाय बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन संग तबहिं खिझत बल भैया॥
मोसों कहत तात वसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दै वसुदेव को करि-करि जतन बटैया॥
अब बाबा कहि कहत नंद को जसुमति को कहै मैया।
ऐसेहि कहि सब मोहिं खिझावत तब उठि चलो खिसैया॥
पाछे नंद सुनत हैं ठाढ़े हँसत-हँसत उर लैया।
"सूर" नंद बलरामहिं धिर्‌यो सुनि मन हरख कन्हैया॥

(५)

जेंवत श्याम नंद की कनियाँ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छवि निरखत नँदरनियाँ॥
बरी बरा, बेसन बहु भाँतिन व्यंजन विविध अनगनियाँ।
डारत खात लेत अपने कर रुचि मानत दधि दनियाँ॥
मिश्री दधि माखन मिश्रित करि मुख नावत छवि धनियाँ।
आपुन खात नंद मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ॥
जो रस नन्द यशोदा विलसत सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नन्दजू अँचवन कियो माँगत "सूर" जुठनियाँ॥

भ्रमर-गीत

(१)

अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी।
देख्यो चाहत कमलनैन को निसिदिन रहत उदासी॥

आये ऊधौ फिरि गये आँगन डारि गये गर फाँसी।
केसरि तिलक मोतिन की माला वृन्दावन को वासी॥
काहू के मन की कोऊ न जानत लोगन के मन हाँसी।
"सूरदास" प्रभु तुम्हरे दरस को जाइ करवट त्यों कासी॥

(२)

ऊधो योग योग हम नाहीं।
अवला सार-ज्ञान कहा जानै कैसे ध्यान धराहीं॥
ते ये मूंदन नैन कहत हैं हरि मूरति जा माहीं।
ऐसी कथा कपट की मधुकर हमते सुनी न जाहीं॥
स्रवन चीर अरु जटा बँधावहु ये दुःख कौन समाहीं।
चंदन तजि अंग भस्म वतावत विरह अनल अति दाहीं॥
योगी भरमत जेहि लगि भूले सो तो हैं अपु माहीं।
"सूरदास" ते न्यारे न पल छिन घट तें ज्यों परिछाहीं॥

(३)

कहाँ लौ कहिये व्रज की वात।
सुनहु स्याम तुम विन उन लोगन जैसे दिवस विहात॥
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत वैं मलिन वदन कृश गात।
परम दीन जनु सिसिर हिमी हत अंवुज गत विन पात॥
जाकहुँ आवत देखि दूर तें सव पूछति कुसलात।
चलन न देत प्रेम आतुर उर कर चरनन-लपटात॥
पिक चातक वन वसन न पावहिं वायस बलिहि न खात।
"सूर" स्याम संदेसन के डर पथिक न उहि मग जात॥

(४)

ऊधो मोहिं व्रज विसरत नाहीं।
वृन्दावन गोकुल तन आवत सघन तृणन की छाँही॥

प्रात समय माता जसुमति अरु नन्द देख सुख पावत ।
माखन रोटी दही सजायो अति हित साथ खवावत ॥
गोपी ग्वाल बाल संग खेलत सब दिन हँसत खिरात ।
"सूरदास" धनि धनि ब्रजवासी जिन सौं हँसत ब्रजनाथ ॥

(५)

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं ।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं ॥
घर के कहैं वेग ही काढ़ो भूत भये कोउ खैहैं ।
जा प्रीतम से प्रीति घनेरी सोऊ देखि डरैहैं ॥
कहँ वह ताल कहाँ वह सोभा देखत धूर उड़ैहैं ।
भाई बन्धु अरु कुटुम्ब कबीला सुमिरि सुमिरि पछतैहैं ॥
बिन गोपाल कोऊ नहिं अपनो जस कीरति रहि जैहैं ।
सो तौ "सूर" दुर्लभ देवन को सत संगति में पैहैं ॥

३. मलिक मोहम्मद जायसी

जन्म-सम्वत् : १५४९ मृत्यु-सम्वत् : १५९९

मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के बाद कुछ शताब्दियों तक हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते रहे किन्तु कुछ समय बाद दोनों एक दूसरे के निकट आए और दोनों ने परस्पर समझने की चेष्टा की। मुसलमानों का एक सम्प्रदाय, जिसे अपनी सादगी के कारण 'सूफ़ी' कहा जाता था, अधिक उदार था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'प्रेम' को ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन मानते थे। इन सूफ़ियों ने भारतीय लोक-जीवन की कथाओं को दोहा-चौपाई की शैली में 'मसनवी' के ढंग पर कहा जिसमें नायिका की प्राप्ति के लिये नायक अनेक कष्ट सहता है और अन्त में उसे प्राप्त करता है। मलिक मोहम्मद जायसी प्रेम-गाथा परम्परा के प्रमुख गायक थे। जायसी के पूर्व भी इस प्रकार की रचनाएँ हो चुकी थीं, जिनका उल्लेख जायसी ने अपने 'पद्मावत' में किया है। उनमें कुतबन की 'मृगावती' और मंझन की 'मधुमालती' प्रमुख हैं।

जीवन-वृत्त

जायसी का निवास-स्थान जायस था, जो रायबरेली जिले में (प्रतापगढ़ से रायबरेली जाने वाली रेलवे लाइन पर) स्थित है। वे कुरूप थे और चेचक से उनकी बाईं आँख जाती रही थी। जायस में ही उनके जीवन का अधिकांश भाग बीता था, बीच में कुछ समय के लिये वे जायस छोड़ कर अन्यत्र चले गये। मलिक मोहम्मद एक गृहस्थ किसान के रूप में रहते थे। वे प्रारम्भ से ही ईश्वर-भक्त और जीव-मात्र से प्रेम रखने वाले थे।

जायसी ने अपने चार मित्रों का उल्लेख अपनी प्रमुख कृति 'पद्मावत' में किया है: यूसुफ मलिक, सालार कादिम, सलोने मियाँ और बड़े

शेख। जायसी के भाई का परिवार अभी तक वर्तमान है। जायसी के वंश का कोई भी नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि उनके पुत्र भी थे जिनकी आकस्मिक मृत्यु के बाद जायसी विरक्त हो गये। उन्होंने शेख मोहिदी को अपना गुरु बताया है, किन्तु सैयद अशरफ को पीर की संज्ञा से अभिहित किया है। ये दोनों ही शेख निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में हैं।

काव्य-परिचय

जायसी के काव्य में मानव-जीवन का व्यापक दृष्टिकोण है। वैसे तो 'पद्मावत' की प्रमुख कथा चित्तौड़ के राजा रत्नसेन की है, जो हीरामन तोते से सिंहलद्वीप की पद्मिनी का अलौकिक रूप-वर्णन सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए निकलने, मार्ग में अनेक बाधाएँ सहने और अन्त में प्राप्त करने से ही सम्बन्धित है, किन्तु उसमें जीवन के लगभग सभी पहलू हैं। लौकिक प्रेम अलौकिक की सीमा तक पहुँच गया है। विवाह, युद्ध, भोज, स्थान-चित्रण आदि के सफल वर्णन के अतिरिक्त पति-पत्नी का प्रेम (जो मोह की सीमा तक पहुँच गया है), क्षात्र धर्म आदि के भी उदाहरण हमारे सामने हैं। उनका बारहमासा, विप्रलम्भ-शृङ्गार का उत्कृष्ट नमूना है। राजा, रानी, बादशाह और सरदारों का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। तात्पर्य यह है कि 'पद्मावत' को सफल प्रबन्ध-काव्य माना जा सकता है।

प्रेम-तत्त्व

जायसी का 'पद्मावत' एक सफल काव्य के अतिरिक्त सूफ़ी-सिद्धांतों की अभिव्यक्ति के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। सूफ़ी सिद्धांत के अनुसार साधक की जो चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं उन सबका वर्णन 'पद्मावत' में है। वे अवस्थाएँ हैं शरीयत, तरीक़त, हकीक़त और मारिफ़त। प्रथम अवस्था है, नियमों का पालन करना (रत्नसेन योगी होकर निकल पड़ता है), दूसरी अवस्था में साधक 'नफ़्स' (इन्द्रियों) का दमन करता हुआ

'कल्ब' (आत्मा) की शुद्धि करता है (रत्नसेन मार्ग की बाधाओं को हटाता है) और तब उसे सत्य (हक़ीकत) का बोध होता है और अन्तिम सिद्धावस्था है 'मारिफ़त' जिसमें उसे आनन्द की प्राप्ति होती है।

सूफ़ी-साधक 'खुदा के नूर को हुस्ने बुताँ के परदे में' देखा करते हैं। इश्क़-मजाज़ी (लौकिक-प्रेम) इश्क़ हक़ीकी (अलौकिक-प्रेम) की प्रथम सीढ़ी है। इसी कारण जायसी तथा अन्य सूफ़ियों ने रूप का वर्णन अत्यधिक किया है। प्रेम को वे एक पवित्र वस्तु मानते हैं। एक अन्य सूफ़ी-साधक ने कहा है :—

जाना जेहिक प्रेममय हीया। मरै न कबहुँ सो मरजीया॥

—इन्द्रावती

इसी प्रेम-तत्त्व की प्रधानता सूफ़ी प्रेम-कथाओं में है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से जायसी का दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। उनके पात्र प्रेम को ही अपना आदर्श मानते हैं किन्तु वे मानवोचित स्वभाव से बहुत दूर नहीं हैं। उनमें भी ईर्ष्या है (नागमती, गोरा और बादल की पत्नियाँ), स्वाभिमान और स्वधर्म के प्रति जागरण है (सिंहल नरेश, रत्नसेन, गोरा और बादल), किन्तु अधिकांश पात्र आदर्श हैं। राघव चेतन और अलाउद्दीन खल पात्र कहे जायेंगे। इस प्रकार उसमें जीवन की व्यापकता है।

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से जायसी अधिक सफल नहीं कहे जा सकते। प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के रूप में ही हुआ है किन्तु कुछ स्थलों पर वर्णन अत्यन्त सजीव है जैसे बारहमासा में। जायसी का वर्णन फ़ारसी तथा भारतीय परम्परा दोनों से ही प्रभावित है। प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी फ़ारसी-प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि मुस्लिम सभ्यता के प्रभाव के कारण उनके अलाउद्दीन-सम्बन्धी वर्णनों के सामने कभी-कभी रत्नसेन का महत्त्व भी कम हो गया है। उन्होंने भारतीय संस्कृति का

परिचय निकट से प्राप्त किया था, इसमें सन्देह है। नारद और हनुमान का परिहास-पूर्ण वर्णन इसका प्रमाण है। फिर भी, उनका चरित्र-चित्रण और वर्णन भारतीय संस्कृति के सर्वथा प्रतिकूल नहीं है। वे उदार स्वभाव के थे और वर्णन में जो कहीं-कहीं दोष हैं उसका कारण अन्ध-विश्वास या परम्परायें हैं, संस्कृति के प्रति विद्वेष या दुर्भाव नहीं।

'पद्मावत' की प्रतीक-योजना

'पद्मावत' की साधारण कथा के साथ उसका गुप्त अर्थ भी है। जायसी के ही शब्दों में :

तन चित उर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरु सुआ जेहि पन्थ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ?
नागमती यह दुनिया धन्धा। बाँचा सोई न ऐहि चित वन्धा।
राघव चेतन सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू।

उपर्युक्त पंक्तियों से 'पद्मावत' का गुप्त अर्थ प्रकट हो जाता है।

अखरावट और आखिरी कलाम

इन दोनों ग्रन्थों में उन्होंने सूफ़ी धर्म के सिद्धान्तों को कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। काव्य की दृष्टि से इन ग्रन्थों का महत्त्व कम है।

शैली-सौन्दर्य

जायसी ने प्रबन्धात्मक शैली अपनाई है और उनके द्वारा कथा-सूत्र का निर्वाह सफलतापूर्वक और स्वाभाविक रूप से हुआ है। दोहा चौपाई को अपने भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर जायसी ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से अपनी कृतियों की रचना की है, जिनमें गति है, प्रवाह है, अलंकार हैं और शब्द-चित्र हैं। उनके दोहों के गेय-तत्त्व पर तत्कालीन अमेठी नरेश मुग्ध हो गये थे। 'मसनवी' की ही तरह उन्होंने कथा के प्रारम्भ में ईश्वर के साथ शाहेवक्त की भी स्तुति की है। कथा का विभाजन सर्गों में न होकर खण्डों में है।

भाषा

जायसी की भाषा अवधी है। कुछ आलोचक तो उनके इस ग्रन्थ को तुलसीदास का शैली-आदर्श मानते हैं। ब्रजभाषा के ऐसे शब्द जो अवधी-प्रदेश में भी प्रयुक्त होते हैं, उनके ग्रन्थों में भी मिल जाते हैं। संस्कृत के शब्द कम ही हैं। भाषा सरल है और साधारण लोगों की समझ में आ जाती है। जब वे गूढ़ विषयों का निरूपण करते हैं तो भाषा स्वभावतः कुछ क्लिष्ट हो जाती है।

रस-परिपाक

'पद्मावत' में अनेक रसों का परिपाक हुआ है। समस्त ग्रन्थ में शृंगार-रस की प्रधानता है। विप्रलम्भ और संयोग-शृंगार दोनों का ही सुन्दर निरूपण हुआ है। वीभत्स रस भी कहीं-कहीं आ गया है। कुछ स्थलों पर अद्‌भुत रस भी है। वीर रस युद्ध-वर्णन सम्बन्धी स्थलों में है। रस की दृष्टि से भी जायसी एक श्रेष्ठ कवि समझे जाने चाहिए।

अलंकार-योजना

जायसी द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में अधिकांश सादृश्य मूलक हैं। अनुप्रास, यमक, श्लेष, उत्प्रेक्षा आदि अतिप्रयुक्त अलंकारों के अतिरिक्त दृष्टांत, भ्रम, विरोध, परिकरांकुर आदि अलंकार भी सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुए हैं। भ्रम और विभावना के उदाहरण देखिये :—

भूलि चकोरि दीठि मुख लावा (भ्रम)

जीभि नाहि पै सब कुछ बोला। तन नाहीं सब ठाहर डोला। (विभावना)

इनके सभी अलंकार जीवन की स्वाभाविकता से ओत-प्रोत हैं।

जायसी का महत्व

जायसी प्रेम-काव्य परम्परा के प्रमुख कवि हैं। उन्होंने प्रेम-कथा को 'रक्त की लेई' से जोड़ा है और गाढ़ी प्रीति को आँसुओं से भिगोकर गीला किया है। उनकी वर्णन-कुशलता, रस-परिपाक, चरित्र चित्रण,

स्वभाव-चित्रण, अलंकार-योजना सभी हिन्दी साहित्य के लिये गौरव की सामग्री है।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में नख-शिख वर्णन रखा गया है जिसमें अनेक उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं से शरीर का सौंदर्य चित्रित हुआ है।

पद्मावती-सौंदर्य

प्रेम-भाव

नख-शिख वर्णन

का सिंगार ओहि बरनऊँ राजा, ओहिक सिंगार ओहि पै छाजा।
प्रथम सीस कस्तूरी केसा, वलि वासुकि का और नरेसा।
भौंर केस, वह मालति रानी, विसहर लुरे लेहिं अरघानी।
बेनी छोरि झार जौं वारा, सरग पतार होइ अँधियारा।
कोंवर कुटिल केस नग कारे, लहरन्हि भरे भुअँग वैसारे।
बेधे जनौ मलयगिरि वासा, सीस चढ़े लोटहिं चहुँ पासा।
अस फँदवार केस वै, परा सीस गिउ फाँद।
अस्टौ कुररी नाग सव, अरुझ केस के बाँद ॥१॥
बरनौं माँग सीस उपराहीं, सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं।
विनु सेंदुर अस जानहु दीआ, उजियर पंथ रैनि महँ कीआ।
कंचन रेख कसौटी कसी, जनु घन महँ दामिनि परगसी।
सुरुज-किरिन जनु गगन विसेखी, जमुना माँह सुरसती देखी।
खाँड़ै धारि रुहिर जनु भरा, करवत लेइ वेनी पर धरा।
तेहिं पर पूरि धरे जो मोती, जमुना माँझ गंग कै सोती।
करवट तपा लेहिं होइ चूरू, मकु सों रुहिर लेइ देइ सेंदुरू।
कनक दुवादस वानि होइ, चह सोहाग वह माँग।
सेवा करहिं नखत सव, उवै गगन जस गाँग ॥२॥

कहौं लिलार दुइज कै जोती, दुइजहिं जोति कहाँ जग ओती।
सहस किरिन जो सुरुज दिपाई, देखि लिलार सोउ छपि जाई।
का सरवरि तेहि देउँ मयंकू, चाँद कलंकी वह निकलंकू।
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा, वह बिनु राहु सदा परगासा।
तेहि लिलार पर तिलक बईठा, दुइज-पाट जानउ ध्रुव दीठा।
कनक-पाट जनु ैठा राजा, सबै सिंगार अत्र लै साजा।
ओहि आगे थिर रहा न कोऊ, दहुँ का कहँ अस जुरै संजोऊ।

खरग, धनुक चक बान दुइ, जग मारन तिन्ह नाँव।
सुनि कै परा मुरुछि कै, मो कह हुए कुठाँव ॥३॥

भौंहें स्याम धनुक जनु ताना, जासहुँ हेर मार विष बाना।
हनै धुनै उन्ह भौंहनि चढ़े, केइ हथियार काल अस गढ़े।
नैन बाँक, सरि पूज न कोऊ, मानसरोदक उलथहिं दोऊ।
राते कँवल करहिं अलि भवाँ, घूमहिं माति चहहिं अपसवाँ।
उठहिं तुरंग लेहिं नहिं बागा, चाहहिं उलथि गगन कहँ लागा।
जग डोलै डोलत नैनाहाँ, उलटि अड़ार जाहिं पल माहाँ।
समुद-हिलोर फिरहुँ जनु झूले, खंजन लरहिं मिरिग जनु भूले।

सुभर सरोवर नैन वै, मानिक भरे तरंग।
आवत तीर फिरावहीं, काल भौंर तेहि संग ॥४॥

बरुना का बरुनौं इमि बनी, साधे बान जानु दुइ अनी।
जुरी राम रावन कै सैना, वीच समुद्र भए दुइ नैना।
नासिक खरग देउँ कह जोगू, खरग खीन वह बदन संजोगू।
नासिक देखि लजानेउ सूआ, सूक आई बेसरि होइ ऊआ।
पुहुप सुगंध करहिं एहि आसा, मकु हिरकाइ लेइ हम पासा।
अधर दसन पर नासिक सोभा, दारिउँ बिंब देखि सुक लोभा।
खंजन दुहुँ दिसि केलि कराहीं, दहुँ वह रस कोउ पाव कि नाहीं।

देखि अमिय-रस अधरन्ह, भयउँ नासिका कीर।
पौन बास पहुँचावै, असरम छाँड़ न तीर ॥५॥

अधर सुरंग अमी रस भरे, बिंब सुरंग लाजि बन फरे।
हीरा लेइ सो विद्रुम धारा, बिहँसत जगत होइ उजियारा।
अस कै अधर अमी भरि राखे, अबहिं अछूत न काहू चाखै।
दसन चौक बैठे जनु हीरा, औ बिच बिरंग स्याम गंभीरा।
जस भादौं निसि दामिनि दीसी, चमकि उठै तस बनी बतीसी।
जेहि दिन दसन जोति निरमई, बहुतै जोति जोति ओहि भई।
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी, तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी।

हँसत दसन अस चमकै, पाहन उठै झरक्कि।
दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरक्कि ॥६॥

४. तुलसीदास

जन्म-सम्वत् : १५५४, श्रावण शुक्ल ७ मृत्यु-सम्वत् : १६८० वि०

काव्य-प्रेरणा

गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे काल में हुआ था जब समाज और धर्म में अशान्ति थी। सामाजिक अव्यवस्था अपने चरम उत्कर्ष पर थी, पुत्र-पिता, राजा-प्रजा, पति-पत्नी परस्पर असन्तुष्ट थे। निर्गुण और अलख निरंजन के भक्त अपनी-अपनी महत्ता सिद्ध करने के प्रयत्न में थे। शैव और वैष्णव एक दूसरे को अपना शत्रु समझते थे। ऐसी गम्भीर परिस्थिति में महात्मा तुलसीदास जी का आविर्भाव हुआ। उन्होंने युग की परिस्थिति देखी और सभी को ग्रहण करते हुए समन्वयशील दृष्टि प्रदान की। युग ने उनके ज्ञान-दान को ग्रहण किया और जन-साधारण उनके महान् आदर्शों का अनुसरण करने लगा।

जीवन-वृत्त

गोस्वामी जी का जन्म बाँदा जिले के राजापुर ग्राम में श्रावण शुक्ल सप्तमी सम्वत् १५५४ वि० को हुआ। कहते हैं कि जन्म से ही उनमें विचित्र लक्षण थे। वे जन्म लेने के बाद रोये नहीं वरन् उन्होंने राम का नाम उच्चारण किया। इसीलिये बचपन में उनका नाम 'रामबोला' पड़ा। उनकी माता हुलसी उन्हें जन्म देने के बाद ही सुरधाम चली गयीं। कुछ बड़े होने पर बालक तुलसी को द्वार-द्वार भीख माँगनी पड़ी तथा उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े जिनका संकेत 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' में है। दो वर्ष बाद स्वामी नरहरिदास ने तुलसी पर कृपा की और वे उन्हें अपने साथ ले गये। उन्होंने ही तुलसी का नाम 'रामबोला' बदल कर 'तुलसीदास' रक्खा।

स्वामी नरहरिदास ने बालक के ब्राह्मणोचित संस्कार किये। वहीं तुलसी ने वेद-शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की तथा रामकथा सुनी। स्वामी नरहरिदास का आश्रम सरयू और घाघरा के संगम पर सूकर खेत नामक स्थान पर था। पाँच वर्ष के बाद वे स्वामी नरहरिदास जी के साथ काशी गये और वहाँ उन्होंने शेष सनातन जी के आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त की। पन्द्रह वर्ष तक उन्होंने काशी में शिक्षा प्राप्त की किन्तु सम्वत् १५८२ में शेष सनातन जी का स्वर्गवास हो गया और तुलसीदास की शिक्षा भी समाप्त हो गयी।

शिक्षा-गुरु शेष सनातन जी की मृत्यु के बाद तुलसीदास अपने मूल स्थान पर लौट आये। वहाँ उनके कुल का कोई भी व्यक्ति नहीं रह गया था। गाँव वालों से सहानुभूति पाकर वे वहीं रहने लगे और राम कथा सुनाने लगे। इसके बाद ही रत्नावली नाम की कन्या से इनका विवाह हुआ। कुछ दिनों पारिवारिक जीवन व्यतीत करने के बाद उन्होंने पत्नी का त्याग किया, इस विषय में बाबा वेणीमाधवदास तथा अन्य सन्तों ने एक कथा का भी उल्लेख किया है। इसके अनुसार इनके मन में पत्नी के प्रति अत्यधिक प्रेम था। वे उसे एक दिन के लिये भी दूर नहीं कर सकते थे। एक बार पत्नी अपने नैहर चली गयी। वे पत्नी के पीछे रात में बरसाती नदी पार करके अपनी ससुराल पहुँचे। पत्नी ने इनका मोह देखकर निम्नलिखित बात कही :—

हाड़ मास की देह मम, तापर इतनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटहिं भवभीति ॥

इसे सुनते ही वे विरक्त हो गये। इन्होंने अयोध्या और चारों धाम की यात्रा की। 'गोसाईं चरित्र' के अनुसार ये मानसरोवर भी गये थे। चौदह वर्ष दस मास और सत्रह दिन तक यात्रा करने के बाद ये चित्रकूट के निकट आश्रम बनाकर रहने लगे। जनश्रुति के अनुसार इसी आश्रम में हनुमान जी कोढ़ी का वेश बनाकर रामकथा सुनने आते थे और एक प्रेत (जिसका नाम मूल 'गोसाईं चरित' के अनुसार हरिराम था) के

द्वारा बताने पर हनुमान जी की कृपा से उन्हें भगवान राम के दर्शन भी हुए थे। इसके बाद उन्होंने पर्यटन किया और अयोध्या में आकर 'रामचरित मानस' की रचना आरम्भ की।

साहित्यिक जीवन

गोस्वामी तुलसीदास जी का रचना-काल सम्वत् १६१६ से आरम्भ होता है। कहते हैं कि सूरदास जी उनसे मिलने आये थे और उन्होंने तुलसीदास जी को अपना 'सूरसागर' दिखाया था। उसी से प्रेरित होकर गोस्वामी जी ने 'कृष्ण गीतावली' और 'राम गीतावली' की रचना की। सूरदास और तुलसीदास की भेंट की बात अप्रमाणिक है, किन्तु यह स्पष्ट है कि 'सूरसागर' की स्पष्ट छाप तुलसी जी की 'गीतावली' पर है। सम्वत् १६२८ में 'रामगीतावली' और 'कृष्णगीतावली' का अलग-अलग संग्रह हुआ। 'गीतावली' के कुछ पद तो 'सूरसागर' के पद ही हैं, केवल कृष्ण के स्थान पर राम का उल्लेख है। सम्वत् १६३१ में उन्होंने 'रामचरित मानस' की रचना अयोध्या में आरम्भ की, किन्तु उसकी समाप्ति दो वर्षों बाद काशी में हुई। 'कवितावली' उनके फुटकर कवित्तों का संग्रह है जिसमें सम्वत् १६२८ और सम्वत् १६६९ के बीच में लिखी हुई रचनाएँ हैं। 'विनय पत्रिका' की रचना 'मानस' के बाद हुई है।

'रामचरित मानस' की रचना ने पण्डितों में हलचल मचा दी। उन्होंने 'मानस' को चुराने का प्रयत्न किया, पर वे तुलसीदास जी का कुछ भी अहित न कर सके। इन ढोंगी पण्डितों ने मधुसूदन सरस्वती से प्रार्थना की। जब उन्होंने 'मानस' को पढ़ा तो उसकी प्रशंसा में निम्नलिखित श्लोक कहा :—

आनन्द कानने ह्यस्मिन, तुलसी जंगमस्तरुः।
कविता मञ्जरी यस्य, रामः भ्रमर भूषिता ॥

सभी को चुप हो जाना पड़ा।

गोस्वामी जी का अवसान सम्वत् १६८० वि० असीघाट पर श्रावण शुक्ल तीज, शनिवार के दिन हुआ। परम्परा से यह तिथि श्रावण शुक्ला

सप्तमी मानी जाती है, किन्तु अन्य कई प्रमाणों से 'गोसाईं चरित' द्वारा उल्लिखित तिथि सत्य प्रतीत होती है।

काव्य-परिचय

गोस्वामी तुलसीदास जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र जी का गुण-गान अपनी रचनाओं में किया है। वे आदर्श मानव हैं, किन्तु हैं विष्णु के अवतार। उनके अवतार का उद्देश्य भक्तों का और धर्म का उद्धार करना और राक्षसों का संहार करना है। राम के अतिरिक्त लक्ष्मण शेष के, भरत शंख के और शत्रुघ्न चक्र के अवतार हैं। सीता जी लक्ष्मी का अवतार हैं। इस लोक में आकर वे मानवोचित व्यवहार करते हैं। अपने पिता के वे आज्ञाकारी पुत्र हैं और माता के अनन्य भक्त। भक्तों के वे सेवक हैं। स्वभाव से ही वे दयालु हैं। उनके लिए नीच-ऊँच का भेद व्यर्थ है। शबरी के घर भी उन्होंने बेर खाये हैं।

तुलसीदास जी ने रामचन्द्र जी के अतिरिक्त अन्य पात्रों का भी उत्कृष्ट चित्र खींचा है। भरत और लक्ष्मण जैसे आदर्श भाई, सीता जैसी सती पत्नी, विभीषण जैसे भक्त, सभी पात्र अनुकरणीय हैं।

मानव-जीवन का विस्तृत रूप तुलसीदास जी की कृतियों में हमें मिलता है। राज्यादर्शों का उल्लेख उन्होंने उत्तरकाण्ड में किया है। नीति-सम्बन्धी अनेक रचनायें आज भी बातचीत के अवसर पर प्रयुक्त की जाती हैं।

'मानस' में कैकेई और मन्थरा जैसे कुटिल चरित्र भी हैं, पर गोस्वामी जी ने उनकी भी स्पष्ट व्याख्या की है। अपने कार्य के लिये न तो मन्थरा ही दोषी है और न कैकेयी ही, जो उसकी मन्त्रणा स्वीकार कर लेती है। मन्थरा के कृत्य का उत्तरदायित्व तो सरस्वती पर है जिन्होंने भगवान की आज्ञा से ही सब कुछ किया था।

भक्ति-भावना

गोस्वामी जी की साधना अन्य मध्ययुगीन सन्तों की तरह 'भक्ति' ही थी। भक्ति के सामने उन्हें मुक्ति की भी इच्छा नहीं है। सारा संसार

उनके लिए राममय था, उन पतित पावन राम की शरण में जाने के अतिरिक्त कलि-काल में और कोई रास्ता नहीं है। भगवान् राम अन्तर्यामी से अधिक 'बाहरजामी' हैं। जब प्रह्लाद पर कष्ट पड़ा था तो भगवान् पत्थर से प्रकट हुए, न कि हृदय से। उन्होंने अनेक भक्तों का उद्धार किया है और वे तुलसी का भी उद्धार अवश्य करेंगे। यही भावना उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है।

लोकादर्श की स्थापना

गोस्वामी जी आदर्शवादी कवि थे। जैसा पहले कहा जा चुका है कि उन्हें तत्कालीन स्थिति से सन्तोष न था। चारों ओर अज्ञान, अनाचार और अनियमितता का ही अधिकार था। इसलिए उन्होंने इसकी आवश्यकता अनुभव की कि सभी लोग अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। उनका यह सिद्धान्त 'गीता' के कर्मयोग से मिलता जुलता है। वे वर्णाश्रम की व्यवस्था को आवश्यक समझते थे। इसी के अभाव में लोक-जीवन में कर्तव्यहीनता का अतिचार हो रहा था।

गोस्वामी जी समन्वयशील कवि थे। उन्होंने सभी क्षेत्रों में समन्वय किया। द्वैत और अद्वैत दोनों को ही वे महत्व देते हैं। शैव और वैष्णव उनके लिए समान हैं। ज्ञान और भक्ति दोनों का ही महत्व है। वे सब कुछ ग्रहण करके उसे नवीन और उपयोगी रूप देने के पक्षपाती थे। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उन्होंने मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने ग्रन्थ की रचना जन-भाषा में ही की है।

शैली-सौन्दर्य

गोस्वामी जी उच्चकोटि के भक्त और कवि थे। उनके 'मानस' में दोहा, चौपाई, सोरठा, हरिगीतिका आदि छन्द हैं। उनकी रचनाओं का अभिव्यक्ति पक्ष भी अत्यन्त कुशल है। रस-परिपाक की दृष्टि से उनमें सभी रस मिल जायेंगे। मार्मिक स्थलों की पहिचान उन्हें थी। सीता-स्वयंवर, राम-वनवास, भरत-मिलाप, अशोक-वन में सीता आदि स्थलों को उन्होंने अत्यन्त सहृदयता के साथ चित्रित किया है।

तुलसीदास जी ने ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर अपना समान अधिकार दिखाया है। 'मानस' की रचना उन्होंने अवधी में की है।

उनकी अवधी जायसी की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और सुन्दर है। ब्रजभाषा में उनके भाव अत्यन्त कुशलता से व्यक्त हुए हैं। 'कवितावली', 'विनयपत्रिका', 'गीतावली' आदि रचनायें ब्रजभाषा में हैं।

एक फ्रेञ्च आलोचक ने श्रेष्ठ कवि के तीन गुण बताये हैं—समन्वय, अनुभूति की सत्यता और स्पष्टता। गोस्वामी तुलसीदास जी की रचना इन तीनों गुणों से पूर्ण है। स्पष्टता या सरलता गोस्वामी जी का प्रमुख गुण है। समन्वय और अनुभूति की सत्यता के बारे में पहले ही कहा जा चुका है।

उनके ग्रंथों में अलंकार का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। सादृश्य-मूलक अलंकारों के अतिरिक्त विरोध-मूलक अलंकारों को भी स्थान मिला है। उपमा, रूपक और अनुप्रास तो प्रत्येक छन्द में मिल जायेंगे।

छन्द की दृष्टि से तुलसीदास जी का स्थान सभी पूर्ववर्ती कवियों से अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने सभी प्रचलित शैलियों को अपनाया है। कवित्त, सवैया, छप्पय, सोरठा, चौपाई, दोहा आदि छन्द कुशलतापूर्वक लिखे गये हैं।

तुलसीदास जी का महत्व

तुलसीदास जी का अवसान हुए लगभग ३३५ वर्ष बीत गये हैं, फिर भी उनका काव्य हिन्दू-समाज द्वारा ही नहीं विदेशों में भी आदर पा रहा है। वे कवि तो थे ही, एक महान् जन-नायक भी थे। विपथगामी जनता का उन्होंने अपनी प्रतिभा और ज्ञान से मार्ग-निर्देशन किया।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में रखे गये अंश तुलसीदास जी की रचनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। बाल-चरित्र और सीता-स्वयंवर सम्बन्धी अंशों से उनकी महानता का परिचय प्राप्त हो सकता है। 'गीतावली' में राम के

शील का चित्रण है तो 'कवितावली' में राम की शक्ति का। भाव-चित्रण-शैली तुलसीदास में अद्वितीय है।

रचनायें

तुलसीदास के प्रामाणिक ग्रन्थ संख्या में बारह हैं। 'रामचरित मानस' के अतिरिक्त शेष ग्यारह ग्रन्थ इस प्रकार हैं :—

गीतावली, कृष्ण गीतावली, कवितावली, दोहावली, विनय-पत्रिका, रामलला-नहछू, रामाज्ञा-प्रश्न, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य सन्दीपनी।

बाल-चरित्र

बाल चरित हरि बहुविधि कीन्हा, अति आनंद दासन्ह कहँ दीन्हा।
कछुक काल बीते सब भाई, बड़े भए परिजन सुखदाई।
चूड़ाकरन कीन्ह गुरु आई, विप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई।
परम मनोहर चरित अपारा, करत फिरत चारिउ सुकुमारा।
मन-क्रम वचन अगोचर जोई, दसरथ-अजिर विचर प्रभु सोई।
भोजन करत बोल जब राजा, नहिं आवत तजि बाल समाजा।
कौसल्या जब बोलन जाई, ठुमक-ठुमक प्रभु चलहिं पराई।
निगम नेति सिव अन्त न पावा, ताहि धरे जननी हठि धावा।
धूसरि धूरि भरे तनु आए, भूपति बिहँसि गोद बैठाये।
भोजन करत चपल चित, इत-उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकात मुख, दधि ओदन लपटाइ ॥१॥
बालचरित अति सरल सुहाए, सारद सेष संभु स्रुति गाए।
जिन्ह कर मन इन सन नहिं राता, ते जन वंचित किये विधाता।
भए कुमार जबहिं सब भ्राता, दीन्ह जनेऊ गुरु-पितु-माता।
गुरु-गृह गए पढ़न रघुराई, अलप काल विद्या सब आई।
जाकी सहज स्वास स्रुति चारी, सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी।
विद्या-विनय-निपुन गुनसीला, खेलहिं खेल सकल नृप-लीला।

करतल वान धनुष अति सोहा, देखत रूप चराचर मोहा।
जिन्ह बीथिन्ह विहरहिं सब भाई, थकित होहिं सब लोग लुगाई।
कोसल पुर वासी नर, नारि वृद्ध अरु बाल।
प्रानहुँ ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल ॥२॥
बंधु सखा संग लेहिं बुलाई, वन मृगया नित खेलहिं जाई।
पावन मृग मारहिं जिय जानी, दिन प्रति नृपहिं देखावहिं आनी।
जे मृग राम बान के मारे, ते तनु तजि सुरलोक सिधारे।
अनुज सखा संग भोजन करहीं, मातु पिता अग्या अनुसरहीं।
जेहि विधि सुखी होहिं पुर लोगा, करहिं कृपानिधि सोई संजोगा।
वेद पुरान सुनहिं मन लाई, आपु कहहिं अनुजहिं समुझाई।
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा, मातु-पिता गुरु नावहिं माथा।
आयसु माँगि करहिं पुर काजा, देखि चरित हरषै मन राजा।
ब्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि, करत चरित्र अनूप ॥३॥

धनुष-यज्ञ

(जनकपुर-भ्रमण)

लखन हृदय लालसा विसेखी, जाइ जनकपुर आइय देखी।
प्रभु भय बहुरि मुनहिं सकुचाहीं, प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं।
राम अनुज मन की गति जानी, भगत बछलता हिय हुलसानी।
परम विनीत सकुचि मुसुकाई, बोले गुरु-अनुसासन पाई।
नाथ लषन पुर देखन चहहीं, प्रभु-सँकोच-डर प्रगट न कहहीं।
जो राउर आयसु मैं पावौं, नगर देखाइ तुरत लै आवौं।
सुनि मुनीसु कह वचन सप्रीती, कस न राम तुम राखहु नीती।
धरम-सेतु-पालक तुम्ह ताता, प्रेम विवस सेवक-सुख दाता।
जाइ देखि आवहु नगर, सुख निधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सबके नयन, सुन्दर वदन देखाइ ॥४॥

मुनि-पद-कमल वंदि दोउ भ्राता, चले लोक-लोचन-सुखदाता।
बालक वृन्द देखि अति सोभा, लगे संग लोचन मनु लोभा।
पीत वसन परिकर कटि माथा, चारु चाप सर सोहत हाथा।
तन अनुहरत सुचंदन खोरी, स्यामल गौर मनोहर जोरी।
केहरि कंधर वाहु विसाला, उर अति रुचिर नागमनि माला।
सुभग सोन सरसीरुह लोचन, वदन मयंक ताप-त्रय मोचन।
कानन्हि कनक फूल छवि देहीं, चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं।
चितवनि चारु भृकुटि वर वाँकी, तिलक-रेख-सोभा जनु चाँकी।

रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस।
नख सिख-सुन्दर वंधु दोउ, सोभा सकल सुदेस ॥५॥

देखन नगर भूप सुत आए, समाचार पुरवासिन्ह पाए।
धाए धाम काम सब त्यागी, मनहुँ रंक निधि लूटन लागी।
निरखि सहज सुन्दर दोउ भाई, होंहि सुखी लोचन-फल पाई।
जुवती भवन झरोखन्हि लागी, निरखहिं राम रूप अनुरागी।
कहहिं परस्पर वचन सप्रीती, सखि इन्ह कोटि काम-छवि जीती।
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं, सोभा अस कहुँ सुनिअत नाहीं।
विष्णु चारि भुज विधि सुखचारी, विकट वेष मुख पंच पुरारी।
अपर देउ अस कोउ न आही, यह छवि सखी पटतरिअ जाही।

वय किसोर सुषमा सदन, स्याम गौर सुख धाम।
अंग-अंग पर वारिअहि, कोटि-कोटि सत काम ॥६॥

देखि राम छवि कोउ एक कहई, जोगु जानकिहि एहु वरु अहई।
जौं सखि इन्हहिं देख नरनाहू, पन परिहरि हठि करैं विवाहू।
कोउ कह ए भूपति पहिचाने, मुनि समेत सादर सनमाने।
सखि परंतु पन राउ न तजई, विधिवस हठि अविवेकहि भजई।
कोउ कह जौं भल अहइ विधाता, सब कहँ सुनिअ उचिय फल दाता।
तौ जानकिहि मिलिहि वरु एहू, नाहिन आलि इहाँ संदेहू।

जौं विधि वस अस बनै संजोगू, तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू।
सखि हमरे आरति अति ताते, कबहुँक ए आवहिं एहि नाते।

नाहिं त हम कहँ सुनहु, सखि इन्ह कर दरसन दूरि।
एह संघट तब होइ जब, पुण्य पुराकृत भूरि ॥७॥

बोली अपर कहेउ सखि नीका, एहि बिआह अति हित सबही का।
कोउ कह संकर चाप कठोरा, ए स्यामल मृदुगात किसोरा।
तब असमंजस अहई सयानी, यह सुनि अपर कहें मृदुवानी।
सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं, बड़ प्रभाव देखत लघु अहहीं।
परसि जासु पद-पंकज-धूरी, तरी अहिल्या कृत अघ-भूरी।
सो कि रहहिं बिनु सिव धनु तोरें, यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें।
जेहि विरंचि रचि सीय सँवारी, तेहि स्यामल वरु रचेउ विचारी।
तासु बचन सुनि सब हरषानी, ऐसेई होउ कहहिं मृदुवानी।

हिय हरषहिं बरसहिं सुमन, सुमुखि सुलोचन वृन्द।
जाहिं जहाँ जहुँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानन्द ॥८॥

दर्शन

देखन बागु कुंअर दोउ आए, वय किसोर सब भाँति सुहाए।
स्यामल गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।
सुनि हरषीं सब सखी सयानी, सिय हिय अति उत्कंठा जानी।
एक कहइ नृप सुत तेइ आली, सुनि जे मुनि सँग आए काली।
जिन्ह निज रूप मोहनी डारी, कीन्हें स्ववस नगर नर-नारी।
बरनत छवि जहँ तहँ सब लोगू, अवसि देखिअहिं देखन जोगू।
तासु बचन अति सियहिं सुहाने, दरस लागि लोचन अकुलाने।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई, प्रीति पुरातन लखै न कोई।

सुमिरि सीय नारद बचन, उपजी प्रीति पुनीत।
चकित विलोकति सकल दसि, जनु सिसु मृगी सभीत ॥९॥

कंचन-किंकिन-नूपुर-धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं, मनसा बिस्व विजय कहँ कीन्हीं ।
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा, सियमुख-ससि भए नयन चकोरा ।
भए विलोचन चारु अचंचल, मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ।
देखि सीय सोभा सुख पावा, हृदय सराहत बचनु न आवा ।
जनु विरंचि सब निज निपुराई, बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ।
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई, छवि-गृह दीप-सिखा जनु बरई ।
सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पटतरौं विदेह कुमारी ।

सिय सोभा हिय बरनि प्रभु, आपनि दसा विचारि ।
बोले सुचि मन अनुज सन, वचन समय अनुहारि ॥१०॥

तात जनक तनया यह सोई, धनुष जज्ञ जेहि कारन होई ।
पूजन गौरि सखी लै आई, करत प्रकास फिरइ फुलवाई ।
जासु विलोकि अलौकिक सोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा ।
सो सबु कारन जान विधाता, फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता ।
रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ, मनु कुपंथ पगु धरैं न काऊ ।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी, जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ।
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी, नहिं लावहिं परतिय मन डीठी ।
मँगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं, ते नरवर थोरे जग माहीं ।

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लुभान ।
मुख-सरोज-मकरन्द छवि, करै मधुप इव पान ॥११॥

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता, कहँ गए नृप किसोर मनु चिंता ।
जहँ विलोक मृग सावक नयनी, जनु तहँ बरसि कमल सित-स्रेनी ।
लता ओट तब सखिन लखाए, स्यामल-गौर किसोर सुहाए ।
देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहिचाने ।
थके नयन रघुपति छवि देखे, पलकन्हिहूँ परिहरेउ निमेखे ।
अधिक सनेह देह भई भोरी, सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी ।

लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हें पलक-कपाट सयानी।
जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी, कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।
लता भवन तें प्रगट भए, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद-पटल बिलगाइ ॥१२॥

सीता-सौंदर्य

प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा, सिय-मुख सरिस देखि सुख पावा।
बहुरि विचारि कीन्ह मन माहीं, सीय वदन सम हिमकर नाहीं।
जनम सिंधु पुनि बंधु विष, दिन मलीन सकलंकु।
सिय-मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंकु ॥१॥
घटै बढ़ै बिरहिन दुखदाई, ग्रसै राहु निज संधिहि पाई।
कोक-सोक-प्रद पंकज द्रोही, अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।
वैदेही - मुख - पटतर दीन्हें, होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें।
सिय-मुख छवि विधु ब्याज बखानी, गुरु पहँ चले निसा बड़ि जानी।
करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा, आयसु पाइ कीन्ह विश्रामा।
विगत निसा रघुनायक जागे, बंधु विलोकि कहन अस लागे।
उयेउ अरुन अवलोकहु ताता, पंकज - कोक - लोक - सुखदाता।
बोले लषन जोरि जुग पानी, प्रभु - प्रभाव सूचक मृदु बानी।
अरुन उदय सकुचे कुमुद, उडगन-ज्योति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि, भए नृपति बलहीन ॥२॥

धनुर्भङ्ग

गिरा-अलिनि मुख-पंकज रोकी, प्रकट न लाज-निसा अवलोकी।
लोचन जलु रह लोचन कोना, जैसे परम कृपन कर सोना।
सकुची व्याकुलता बड़ि जानी, धरि धीरज प्रतीति उर आनी।
तन-मन-वचन मोर पनु साँचा, रघुपति-पद-सरोज चितु राँचा।
तौ भगवान सकल उर बासी, करिहहिं मोहिं रघुवर कै दासी।
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू।

प्रभु तन चितै प्रेम पन ठाना, कृपानिधान राम सब जाना।
सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे, चितव गरुड़ लघु व्यालहिं जैसे।
राम विलोके लोग सब, चित्र लिखे से देखि।
चितई सीय कृपायतन, जानी विकल विसेखि ॥३॥
देखी विपुल विकल वैदेही, निमिष विहात कलप सम तेही।
तृषित वारि विनु जो तनु त्यागा, मुएँ करै का सुधा-तड़ागा।
का बरषा जब कृषी सुखाने, समय चूकि पुनि का पछताने।
अस जिय-जानि जानकिहि देखी, प्रभु पुलके लखि प्रीति विसेखी।
गुरुहिं प्रनाम मनहिं मन कीन्हा, अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा।
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ, पुनि धनु नभ-मण्डल सम भयऊ।
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े, काहु न लखा देख सब ठाढ़े।
तेहि छन मध्य राम धनु तोरा, भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा।
भरे भुवन घोर कठोर रव, रवि-वाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि, अरि कोल कूरम कलमले ॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें, सकल विकल विचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी, जयति वचन उचारहीं ॥
शंकर चाप जहाज, सागर रघुवर बाहु-बल।
बूड़ सो सकल समाज, चढ़े जो प्रथमहिं मोह बस ॥

वन पथ पर

१

कर-कमलनि सर सुभग सरासन,
कटि मुनि बसन निषंग सुहाए।
भुज प्रलंब, सब अंग मनोहर,
धन्य सौं जनक जननि जेहि जाए ॥१॥
सरद-विमल-विधु-बदन जटा सिर,
मंजुल अरुन - सरोरुह लोचन।

तुलसिदास मनिमय मारग में,
राजत कोटि मदन-मद-मोचन ॥२॥

आली काहू तौं बूझौ न,
पथिक कहाँ धौं सिधैहैं।
उठति वयस मसि भींजति सलोने सुठि,
सोभा देखवैया बिनु वित्त ही बिकैहैं।
हिये हेरि हरि लेत लोनी ललना समेत,
लोयननि लाहु देत जहाँ जहाँ जैहैं ॥३॥

राम-लषन-सिय पंथि की कथा पृथुल,
प्रेम विथकीं कहति सुमुखि सवैहैं।
तुलसी तिन्ह सरिस तेऊ भूरिभाग जेऊ,
सुनि कै सुचित तेहि समै समैहैं ॥४॥

बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही।
गये जो पथिक गोरे साँवरे सलोने।
सखि, संग नारि सुकुमारि रही।
जानि पहिचानि बिनु आपुतें आपनेहु ते,
प्रानहुँ तें प्यारे प्रियतम उपहीं।
सुधा के सनेह हू कै सार लै सँवारें विधि,
जैसे भावतें हैं भाँति जाति न कही।
बहुरि बिलोकिबे कबहुँक, कहत तनु,
पुलक नयन जलधार बही।
तुलसी प्रभु सुमिरि ग्राम जुवती सिथिल,
बिनु प्रयास परीं प्रेम सही ॥५॥

आली री, पथिक जे एहि पथ परौं सिधाए।
तेतौं राम लषन अवध तें आए ॥

संग सिय सव अंग सहज सोहाये ।
रति, काम, ऋतुपति कोटिक लजाए ॥६॥
(गीतावली से)

राम-महिमा

छारि ते सँवारिकै पहारहू तैं भारी कियो,
गारो भयो पंच मैं पुनीत पच्छ पाइ कै ।
हौं तो जैसो तव तैसो अव, अधमाई कै कै,
पेट भरौ राम रावरोई गुन गाइ कै ॥
आपने निवाजे की पै कीजै लाज, महाराज !
मेरी ओर हेरि कै न वैठिये रिसाइ कै ।
पालि कै कृपालु व्याल-वाल को न मारिए,
औ काटिये न नाथ ! विषहू को रुख लाइ कै ॥१॥

अपत, उतार, अपकार को अगार जग,
जाकी छाँह छुए सहमत व्याध वाघ को ।
पातक-पुहुमि पालिवे को सहसानन सौं,
कानन कपट को, पयोधि अपराध को ॥
"तुलसी" से वाम को भी दाहिनो दयानिधान,
सुनत सिहात सव सिद्ध साधु साध को ।
रामनाम ललित ललाम कियो लाखनि को,
वड़ो क्रूर कायर कपूत कौड़ी आध को ॥२॥

नाम अजामिल से खल तारन, तारन वारन वार वधू को ।
नाम हरे प्रहलाद-विषाद, पिता भय साँसति सागर सूको ॥
नाम सों प्रीति-प्रतीति विहीन, गल्यो कलिकाल कराल न चूको ।
राखिहैं राम सो जासु हिये "तुलसी" हुलसै वल आखर दूको ॥३॥

सुनिये कराल कलिकाल भूमिपाल तुम !
जाहि घालो चाहिए कहौं धौं राखै ताहि को ?
हौ तो दीन दूबरो, बिगारो ढारो रावरो न,
मैं हूँ तै हूँ ताहि को सकल जग जाहि को ।।
काम कोह लाइ कै देखाइयत आँखि मोहि,
एतें मान अकस कीबै को आपु आहि को ।
साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो,
रामबोला नाम, हौं गुलाम राम-साहि को ।।४।।
(कवितावली से)

५. मीरां

जन्म-सम्वत् : १५५५ मृत्यु-सम्वत् : १६०३

सोलहवीं शताब्दी में भक्ति की जो लहर आयी, उससे भारत का कोई भाग अछूता न बचा। राजस्थान की कवयित्री मीरां का उन भक्तों में प्रमुख स्थान है। वे 'गिरधर गोपाल' के रंग में ऐसी रंगी कि उन्हें लोक-लाज का ध्यान ही न रहा। उनका काव्य "गिरधर गोपाल" के प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित किसी भी कृष्ण-सम्प्रदाय की परम्परा का अनुसरण नहीं किया। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत साधना को ही प्रधानता दी और प्रेम को अपनी उपासना का प्रधान अंग बनाया।

जीवन-वृत्त

मीरांबाई जोधपुर के संस्थापक राव जोधा जी की पौत्री तथा उनके चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थीं। मीरां के विषय में यह प्रसिद्ध है कि बचपन में उनके पिता के घर एक साधु आकर टिका था, उसके पास गिरधर गोपाल की मूर्ति थी। उसे देखकर वे उसे पाने के लिए मचल उठीं। साधु ने पहले तो मूर्ति न दी, पर कहा जाता है कि उसने रात में स्वप्न देखा कि मीरां ही उस मूर्ति की अधिकारिणी हैं। सुबह होते ही वह आया और उसने वह मूर्ति मीरां को दे दी। मीरां को अपने पितामह दूदा जी का अतुल स्नेह मिला। दूदा जी की धार्मिकता का प्रभाव भी मीरां पर पड़ा था।

मीरां का विवाह राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र कुंवर भोजराज के साथ सम्वत् १५७३ में हुआ था। काल की कुछ ऐसी गति हुई कि कुछ ही वर्षों में मीरां का सुहाग लुट गया। युवावस्था का वैधव्य उनके जीवन की धारा को मोड़ने में सहायक हुआ और उनकी सारी चित्त-वृत्तियां गिरधर गोपाल में केन्द्रित हो गयीं।

मीरां का अधिकांश समय साधु-सन्तों की सेवा में बीतने लगा। उन्हें सांसारिक वैभव से कोई अनुराग न रहा। लोकाचार की सीमाओं को वे पार कर चुकी थीं। "प्रेम-बेलि" फैल जाने पर उन्हें किसी का भय न रह गया और न अपने गिरधर के आगे नाचने में किसी प्रकार की लज्जा ही। राजपरिवार को उनका यह व्यवहार अच्छा न लगा। कहते हैं कि मीरां के प्राण लेने के उपाय किए गए किन्तु सब निष्फल रहे। सम्वत् १५९१ में वे मेवाड़ छोड़ कर चली गयीं और फिर वहां से तीर्थ-यात्रा को चल पड़ीं।

मीरांबाई वृन्दावन गयीं और वहाँ श्री जीव गोस्वामी से मिलीं। कुछ दिनों तक वृन्दावन में रहने के बाद वे द्वारकाधाम गयीं और रणछोड़ जी की भक्ति में तल्लीन हो गयीं और वहीं से सम्वत् १६०३ वि० में अपने गिरधर गोपाल के लोक में चली गयीं।

काव्य-परिचय

मीरांबाई का काव्य उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। उनके जीवन में कृष्ण-प्रेम की भावना ही सब कुछ थी और उनका काव्य भी कृष्ण-प्रेम से भरा हुआ है। मीरां कृष्ण को अपना पति मानती हैं और उनसे मिलने के लिए तड़पती हैं। उनकी वेदना उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है—उन्होंने अपने भावों को सँवारने और सजाने की चिन्ता न की। स्वाभाविक रूप से ही उन्हें व्यक्त कर दिया। उनका एकमात्र उद्देश्य था—अपने प्रियतम का प्रेम और उनसे मिलन। उनके काव्य में मानव-जीवन की गहराई भले ही न हो, किन्तु प्रेम की तीव्रता जितनी अधिक मात्रा में उनमें मिलती है उतनी हिन्दी के अन्य कवियों में नहीं दीख पड़ती।

उनका धर्म था कृष्ण-प्रेम। उनका वह प्रेम रहस्यवाद की सीमा तक पहुँच गया जिसमें दाम्पत्य-भाव की प्रधानता है। वे अपने प्रियतम के साथ एकाकार होकर आनन्द-विभोर रहती हैं।

मीरां का प्रेम गोपियों के प्रेम की तरह है। उन्होंने कृष्ण को अपना

पति मान कर प्रेम के गीत गाये हैं। उनमें दास्य भाव की झलक तो कम है, सख्य भाव की अभिव्यक्ति अधिकांश स्थलों पर हुई है। उनकी भक्ति नारदीय भक्ति-सूत्र के अनुसार "कान्तासक्ति" की कोटि में आवेगी। उनकी भक्ति की तुलना दक्षिण की प्रसिद्ध आलवार कवयित्री अण्डाल से की जा सकती है।

शैली-सौन्दर्य

मीरां के पद उनके प्रेम-विभोर हृदय से निकले हुए सच्चे उद्‌गार हैं जिनका सौन्दर्य उनकी अनुभूति की सत्यता है। उनमें स्वाभाविक सौन्दर्य है। उनकी भाव-तीव्रता में अलंकार मानों स्वयं आकर सुसज्जित हो गये हैं। उनके पदों में भाव-पक्ष का प्राधान्य है। संगीतात्मकता उन पदों का विशेष गुण है।

भाषा

मीरांबाई ने भाषा का बन्धन स्वीकार नहीं किया। उनके पदों में राजस्थानी के शब्दों के साथ-साथ ब्रजभाषा, गुजराती, खड़ी बोली और अवधी के शब्द आए हैं। हो सकता है कि उनके गीतों के प्रचार के परिणामस्वरूप उनमें अन्य भाषाओं के शब्द मिल गये हों। यह भी सम्भव है कि अपने जीवन-काल में वे कई स्थानों पर रहीं, इसलिए उनकी भाषा मिश्रित हो गई है।

रस

मीरां के पदों में श्रृङ्गार के दोनों पक्ष (संयोग और विप्रलम्भ) मिलते हैं। संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष की ही प्रधानता मीरां के काव्य में है। विरह-निवेदन सम्बन्धी कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

मैं विरहणि बैठी जागूं, जगत सब सोवै री आली।
विरहणि बैठी रंगमहल में, मोतियन की लड़ पोवै॥
इक विरहणि हम ऐसी देखी, अँसुवन माला पोवै।
तारा गिण गिण रैन विहानी, सुख की घड़ी कब आवै॥
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, मिल के बिछुड़ न जावै।

प्रस्तुत संग्रह

मीरां के इन पदों से उनकी विचार-धारा का परिचय प्राप्त हो जाता है। उनमें प्रेम की मादकता आत्म-समर्पण के साथ चरम सीमा पर है। "मीरां अन्तस्तल से गाती हैं, उन्हें वाह्य शृंगार की चिन्ता नहीं है। वे प्रेम की योगिनी हैं। वे एक कोकिला-सी बैठ कर अपने गिरधर गोपाल का गीत गाती हैं, वे पृथ्वी पर नहीं हैं, वृक्ष की सबसे ऊँची डाल पर स्वर्ग के कुछ पास हैं।"

मीरांबाई की रचनायें

फुटकर पदों के साथ निम्नलिखित ग्रन्थ मीरां के नाम से प्राप्त हैं :— नरसी जी का माहरा, गीत गोविन्द की टीका, राग सोरठा, पद संग्रह।

पद

(१)

घड़ी एक नहीं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूं जीवण होय॥
धाम न भावै नींद न आवै, विरह सतावै मोय।
घायल सी घूमत फिरूं रे, मेरा दरद न जाणे कोय॥
दिवस तो खाय गमायो रे, रैण गमाई सोय।
प्राण गमायो झूंरता रे, नैण गमाई रोय॥
जो मैं ऐसा जाणती रे, प्रीति किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे, प्रीति करो मत कोय॥
पंथ निहारूं, डगर बुहारूं, ऊवी मारग जोय।
'मीरां' के प्रभु कवरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय॥

(२)

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोणा होय॥

गगन-मंडल पै सेज पिया की, किस विधि मिलणा होय ।
घायल की गति घायल जाने, की जिन लाई होय ॥
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय ।
दरद की मारी वन-वन डोलूं बैद मिल्या नहिं कोय ॥
"मीरां" की प्रभु पीर मिटैगी, जव बैद सँवरिया होय ।

(३)

पावो जी, मैंने नाम रतन धन पायो ।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो ॥
जनम जनम की पूंजी पाई, जग में सभी खोवायो ।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवे, दिन-दिन वढ़त सवायो ॥
सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो ।
"मीरां" के प्रभु गिरधर नागर, हरख हरख जस गायो ॥

(४)

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल ।
मोहिनी मूरति साँवरि सूरति, नैना बने विसाल ।
अधर-सुधा रस मुरली राजत, उर बैजन्ती माल ॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सब्द रसाल ।
"मीरां" प्रभु संतन सुखदायी, भक्त वछल गोपाल ॥

(५)

करम गति टारे नाहिं टरे ।
सतवादी हरिचंद से राजा, नीच घर नीर भरे ।
पाँच पाँडु अरु कुन्ती द्रोपती, हाड़ हिमालय गरे ॥
जज्ञ कियो बलि लेण इन्द्रासन, सो पाताल घरे ।
"मीरां" के प्रभु गिरधर नागर, विष से अमृत करे ॥

(६)

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।
दूसरो न कोई साधो सकल लोक जोई ॥

माई छोड्या बंधु छोड्या छोड्या सगा सोई ।
साधु संग बैठ बैठ लोक लाज खोई ॥
भगत देख राजी हुई जगत देख रोई ।
अँसुवन जल सींच-सींच प्रेम वेलि वोई ॥
दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दई छोई ।
राणा विष प्याला भेज्यो पीय मगन होई ॥
अब तौ वात फैल पड़ी जाणे सब कोई ।
"मीरां" राम लगण लागी होणी होय सो होई ॥

(७)

नहिं ऐसो जन्म वारम्बार ।
क्या जानूं कछु पुण्य प्रकटे, मानुसा अवतार ॥
बढ़त. पलपल घटत छिनछिन, चपल न लागे वार ।
विरछ के ज्यों पात टूटे, लागे नहिं पुनि डार ॥
भौ सागर अति जोर कहिये, विषय ओखी धार ।
सुरत का नर बाँध वेड़ा, वेगि उतरे पार ॥
साधु संता ते महंता, चलत करत पुकार ।
"दासि मीरां" लाल गिरधर, जीवना दिन चार ॥

(८)

मन रे परसि हरि के चरन ।
सुभग सीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरन ॥
जे चरन ध्रुव अटल कीन्हों, राखि अपने सरन ।
जिन चरन ब्रह्मांड मेट्यो, नख सिखौ श्री परन ॥
जिन चरन प्रभु परसि लीने, तरी गौतम घरन ।
जिन चरन कालीहि नाथ्यो, गोप लीला करन ॥
जिन चरन धार्यो गोवर्धन, गरव मघवा हरन ।
"दासि मीरां" लाल गिरधर, अगम तारन तरन ॥

६. केशवदास

जन्म-सम्वत् : १६१२ वि०　　　　　　　　　　मृत्यु-सम्वत् : १६७४ वि०

काव्य-प्रेरणा

प्रत्येक समय में साहित्य में एक मूलधारा के साथ कुछ छोटी-छोटी धारायें भी वहा करती हैं जो समय की अनुकूलता से प्रधान रूप धारण कर लेती हैं। जिस समय महाकवि सूरदास और तुलसीदास भक्ति को सब कुछ मान कर उत्कृष्ट साधना में लीन थे, उसी समय पण्डित काशीनाथ के पुत्र केशवदास जी हिन्दी साहित्य में संस्कृत काव्य-शास्त्र की तरह लक्षण ग्रन्थों की रचना में संलग्न थे। केशव संस्कृत साहित्य के पण्डित थे। उन्होंने काव्य-शिक्षा की परिपाटी हिन्दी में चलाने के लिए कवियों के लिए कम, पर काव्य-प्रेमी राजाओं के लिए अधिक, अलंकार और रस का सोदाहरण विवेचन हिन्दी भाषा में किया।

जीवन-वृत्त

महाकवि केशव आचार्य काशीनाथ के पुत्र थे और ओड़छा नरेश मधुकर शाह के पुत्र इन्द्रजीत के दरबारी कवि थे। "जगत को इन्द्रजीत राजै जुग-जुग, जाके राज केशवदास राज सो करत हैं।" वे अत्यन्त व्यवहार कुशल थे और इन्द्रजीत का जुर्माना माफ कराने के लिये सम्राट अकबर के दरबार में गये थे; अकबर के प्रमुख मन्त्री बीरबल से भी वह परिचित थे। राजा बीरबल इनकी कविता के प्रेमी थे। उन्हीं की सहायता से इन्होंने अपने आश्रयदाता का कार्य सफलतापूर्वक किया था।

इन्द्रजीत ने इन्हें बाईस ग्रामों की जागीर दी थी, उसी से केशवदास एक सम्पन्न जागीरदार की तरह रह सकते थे। केशवदास जी स्वभाव

से रसिक थे। कहते हैं कि उनके सफेद बालों को देखकर एक तरुणी ने इन्हें "बाबा" कह दिया था। इस पर इन्होंने निम्नलिखित दोहे की रचना की थी :—

केशव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं।
चन्द्र वदनि मृग लोचनी, बाबा कहि कहि जाहिं॥

केशवदास स्वाभिमानी और स्वतन्त्र विचारों के कवि थे। अपने आश्रयदाता के विरोधी महाराज वीरसिंह का यशोगान भी उन्होंने किया है।

काव्य-परिचय

केशवदास कवि की अपेक्षा पण्डित अधिक थे। उनके काव्य में कुछ आलोचकों ने केवल दोष अधिक ढूंढ़े हैं। दूसरी ओर 'दीन' जैसे आलोचक केशव के भक्त हैं जो उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। इन दोनों पक्षों में सत्य का कुछ अंश अवश्य है।

जहाँ तक मानव जीवन का प्रश्न है, केशवदास का अध्ययन गम्भीर होते हुए भी अधिक मुखर नहीं है। उनमें कवि का सौन्दर्य कम है। बहुत ही कम मार्मिक स्थलों को केशव की लेखनी सरलतापूर्वक व्यक्त कर सकी है। राज-वैभव, राज-दरबार आदि के दृश्यों का वर्णन उन्होंने कुशलतापूर्वक किया है, किन्तु भरत-मिलाप जैसे प्रसंग को वे सरस बनाने में सफल नहीं हो सके हैं।

भक्ति-भावना

केशवदास भक्त नहीं थे। उनकी "रामचन्द्रिका", "बहुछन्द" में वर्णित राम-कथा है जिसमें वस्तु-चित्रण और संवादों को प्रस्तुत करने में केशव को विशेष सफलता मिली है। तुलसीदास जी के काव्य की भाँति भक्ति उनकी प्रेरणा का विषय नहीं है। वे तो चमत्कार-पूर्ण रचना करना और अलंकार का वैभव दिखलाना ही अपने काव्य का उद्देश्य मानते थे। उनके

राम तुलसी के राम नहीं हैं, वे तो आदर्श पुरुष मात्र हैं। वाल्मीकि रामायण में वर्णित राम का चरित्र ही उनकी 'रामचन्द्रिका' का विषय है।

मूल-प्रवृत्ति

केशव का मुख्य उद्देश्य है—अलंकार, छन्द और रसों के उदाहरण देना। 'रसिक-प्रिया' में उन्होंने रस, नायिका-भेद, वृत्ति का वर्णन किया है। 'कवि-प्रिया' कवि को शिक्षा देने के लिए लिखी गयी है जिसमें कवि के वर्ण्य विषयों और अलंकार का वर्णन है और 'रामचन्द्रिका' में राम कथा के माध्यम से अनेक छन्दों के उदाहण दिये गये हैं। उनका मुख्य उद्देश्य रस-अलंकार-निरूपण था और इस दृष्टि से उन्हें रीति-काव्य का प्रवंतक माना जाता है।

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति-चित्रण में केशव ने केवल परम्परा-निर्वाह किया है। किसी स्थान का वर्णन करते समय उन्हें यह ध्यान नहीं रहा कि अमुक वस्तु उस स्थान में होती भी है या नहीं। विश्वामित्र के तपोवन में उन्होंने इलायची, लवंग और पुँगीफल का वर्णन किया है और राम के विरह-वर्णन का उल्लेख करते समय किष्किन्धा में केशर की क्यारियाँ उगा दी हैं, प्रभात के बाल रवि का वर्णन करते समय वे उसकी तुलना कापालिक के कर में शोणित-स्नात शिर से करते हैं। श्लेषादि अलंकारों के मोह से कहीं-कहीं तो इतनी क्लिष्ट कल्पना की है कि उसे निकृष्ट काव्य कहना ही अधिक उचित है।

चरित्र-चित्रण

केशव जी ने राम और सीता का आदर्श रूप में चित्रण किया है, फिर भी उनमें रसिकता का अभाव नहीं है। सीता राम का श्रम चंचल चारु दृगंचल से दूर करती हैं। वन जाते समय रामचन्द्रजी का कौशल्या को वैधव्य के सम्बन्ध में उपदेश देना उचित नहीं लगता। उनके चरित्र सिद्धान्तों से ही अधिक निर्मित हैं। जीवन की स्वाभाविक रूप-रेखा उनके चित्रों में नहीं उभर सकी है।

पाण्डित्य

केशवदास जी अलंकारवादी थे। उनकी रचनाओं में अलंकार बहुलता है। उन्होंने अलंकारों के तीन भेद किये हैं : वर्णालंकार, वर्ण्यालंकार और विशेषालंकार। विशेषालंकार शब्द का प्रयोग उन्होंने काव्यालंकार के अर्थ में किया है। सूक्ष्म-भेद-विधान उन्हें प्रिय था। उपमा के उन्होंने बाईस भेद किये हैं और श्लेष के तेरह। कुछ नये अलंकार केवल संख्या बढ़ाने के लिए ही रख दिये हैं, जैसे प्रेमालंकार और ऊर्जालंकार। इन्होंने भी अन्य रीति-कालीन कवियों की तरह अपने सामने विवेचनात्मक दृष्टिकोण नहीं रक्खा।

शैली-सौन्दर्य

केशवदास जी यों तो करुण दृश्यों का वर्णन करने में सफल रहे हैं किन्तु ऐसे स्थल उनके काव्य में बहुत कम हैं। जिस समय हनुमान जी सीता जी के आगे रामचन्द्र जी की मुद्रिका डालते हैं, उस समय सीता जी के उद्‌गार अत्यन्त सुन्दर हैं।

श्री पुर में वन मध्य हौं, तू मग करी अनीति।
कहुँ मुँदरी अब तियनि की, को करिहै परतीति ॥

लक्ष्मण को शक्ति लगने का स्थल भी अत्यन्त मार्मिक है। उनकी शैली में रंग और रूप का वैचित्र्य भी है। वह काव्य की एक सफल प्रदर्शनी है। उनकी शैली में रस, अलंकार और शब्दों का सैद्धान्तिक निरूपण है। कहीं-कहीं काल-क्रम दोष भी है। राम-कथा में उन्होंने पाण्डवों का उल्लेख किया है। परवर्ती प्रसंग पूर्ववर्ती कथा की स्वाभाविकता नष्ट करते हैं।

भाषा

केशव की भाषा संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा है। उसमें बुन्देली के शब्द जैसे "गौर मदायन" (इन्द्र धनुष) आदि भी आ गये हैं। व्याकरण के दोष भी इनकी भाषा में कहीं-कहीं देखे जा सकते हैं :—

पीछे मघवा मोहिं शाप दई ।

अथवा

अंगद आज्ञा रघुपति कीन्हों ।

केशव का महत्व

यद्यपि केशव की कविता में च्युति-संस्कृति, हीन उपमान, ग्राम्यत्व, न्यून पदत्व, अधिक पदत्व सभी दोषों के उदाहरण मिलते हैं तथापि काव्य के विकास में उनका महत्व है। वे भक्तिकाल और रीतिकाल के बीच की कड़ी हैं। आगे आने वाले कवियों ने भले ही उनके आदर्शों को न माना हो, किन्तु जो धारा उन्होंने प्रवाहित की, उनमें बहुत से कवि रत्नों ने अवगाहन किया। केशव ने काव्य को अपनी प्रतिभा और आचार्यत्व के बल पर एक गम्भीर रूप दिया जिससे खिलवाड़ करना सहज नहीं है। उन्होंने एक नये मार्ग का अन्वेषण किया जिससे संस्कृत का समस्त रीति साहित्य हिन्दी में रूपान्तरित हो सका।

प्रस्तुत संग्रह

प्रस्तुत संग्रह में 'अवधपुरी वर्णन' रखा गया है जिससे केशव की कविता का नमूना मिल जायगा। इसमें वर्णन-वैचित्र्य और सूक्ष्म निरीक्षण के साथ कवि-कल्पना भी है।

ग्रन्थ

रामचन्द्रिका, रसिक प्रिया, कवि प्रिया, विज्ञान गीता, जहाँगीर जसचन्द्रिका और वीरसिंह देवचरित।

अवधपुरी-नगर-वर्णन

मधुभार छन्द

ऊँचे अवास। बहु ध्वज प्रकास।
सोभा विलास। सोभै अकास ॥१॥

आभीर छन्द

अति सुन्दर अति साधु । थिर न रहत पल आधु ।
परम तपोमय मानि । दंडधारिणी जानि ॥२॥

हरिगीति-छन्द

शुभ द्रोण गिरि गण शिखिर ऊपर उदित औषधि सी गनी ।
बहु वायु वश वारिद बहोरहि अरुझि दामिनि दुति मनी ।
अति किधौं रुचिर प्रताप पावक प्रकट सुरपुर को चली ।
यह किधौं सरित सुदेश मेरी करी दिवि खेलत भली ।

दोहा

जीति जीति कीरति लई, शत्रुन की बहु भाँति ।
पुर पर बाँधी शोभिजै, मानो तिनकी पाँति ॥३॥

त्रिभंगी छंद

सम सब घर सोभैं मुनि मन लोभैं रिपु गण छोभैं देखि सबैं ।
बहु दुन्दभि बाजैं जनु घन गाजैं दिग्गज लाजैं सुनत जबैं ।
तहँ तहँ श्रुति पढ़हीं विघन न बढ़हीं जय जय मढ़हीं सकल दिशा ।
सवई सब विधि क्षम वसत यथाक्रम देवपुरी सम दिवस निशा ॥४॥
कवि कुल विद्याधर, सकल कलाधर, राज राज वर वेश बने ।
गणपति सुखदायक, पशुपति लायक, सूर सहायक कौन गने ।
सेनापति बुधजन मंगलगुरुगण, धर्मराज मन बुद्धि घनी ।
बहु शुभ मनसाकर, करुणामय अरु सुरत-रंगिनी शोभसनी ॥५॥

हीरक छंद

पंडित गण मंडित गुण दंडित मति देखिये ।
क्षत्रियवर धर्म प्रवर क्रुद्ध समर लेखिये ॥
वैश्य सहित सत्य रहित पाप प्रकट मानिये ।
शूद्र [illegible] जानिये ॥६॥

सिंहविलोकित छन्द

अति मुनि तन मन तहँ मोहि रह्यो।
कछु वुधि वल वचन न जाय कह्यो ॥
पशु पक्षि नारि नर निरखि तबै।
दिन रामचन्द्र गुण गनत सबै ॥७॥

नरहठ्ठा छन्द

अति उच्च अगारनि वनी पगारनि जन चिंतामणि नारि।
वहु शत-मुख-धूमनि-धूपति अंगनि हरि की सी अनुहारि ॥
चित्री वहु चित्रनि परम विचित्रन केशवदास निहारि।
जनु विश्वरूप को अमल आरसी रची विरंचि विचारि ॥८॥

सोरठा

जग यशवन्त विशाल, राजा दशरथ की पुरी।
चन्द्र सहित सव काल, मालथली जनु ईस की ॥९॥

कुंडलिया

पण्डित अति सिगरी पुरी मनहु गिरा-गति गूढ़।
सिंह चढ़ी जनु चण्डिका मोहित मूढ़ अमूढ़ ॥
मोहित मूढ़ अमूढ़ देव सँग अदिति सी सोहै।
सबै सिंगार सदेह मनो रति मन्मथ मोहै ॥
सबै सिंगार सदेह सकल सुख सुखमा मंडित।
मनो शची विधि रची विविध विधि बरनत पंडित ॥१०॥

काव्य छन्द

मूलन ही की तहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय ॥
दुर्गति दुर्गन ही जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कवि कुल के जी में ॥११॥

७. रसखान

जन्म-सम्वत् : १६१५ के लगभग   मृत्यु-सम्वत् : १६८० के लगभग

काव्य-प्रेरणा

कविवर रसखान भक्तियुग के सरस कवि हैं। ये जाति के पठान थे और दिल्ली में निवास करते थे। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने अत्यन्त सरस भाषा में कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी कविता की है। इनके काव्य में सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। प्रेम की पूर्णता ही उनके काव्य का आधार बनी है।

जीवन-वृत्त

किंवदन्ती है कि रसखान का प्रेम पहले लौकिक था। कृष्ण की चर्चा सुनकर उन्होंने सच्चे प्रेम का महत्व समझा और दिल्ली छोड़कर वृन्दावन और गोकुल की गलियों में घूमते रहे। स्वामी विट्ठलनाथ जी ने इन पर कृपा की, भाव-विभोर होकर वे नित्य गौएँ चराने जाया करते थे। रसखान जैसे भावुक भक्त कम हैं। वे उच्च वंश के पठान थे किन्तु भगवद्भक्ति में इन्होंने अपने जीवन के समस्त वैभव का परित्याग कर दिया था। इन्होंने अपने सम्बन्ध में लिखा है :—

देखि गदर, हित साहबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा वंस की, ठसक छोड़ि रसखान॥

काव्य-परिचय

रसखान की कविता में एक भावुक भक्त की रचनायें हैं। उनमें गम्भीरता है और प्रसाद तत्व है। रसखान की रचनाओं में शब्दाडम्बर नहीं है। इनकी "प्रेमवाटिका" अत्यन्त सरस दोहों से पूर्ण है। 'सुजान-रसखान' और 'राग-रत्नाकर' में प्रेम में तन्मयता की सी अनन्यता है।

भक्ति-भावना

रसखान की भक्ति गोपियों की सी भक्ति थी। वे कृष्ण के प्रेम की प्राप्ति चाहते थे। उनकी रचनाओं में बस एक चाह है—एक ही आकांक्षा है—वह है कृष्ण का सामीप्य प्राप्त करना। मानव जन्म पाने पर वे गोकुलवासी बनना चाहते हैं, पशु बनने पर नन्द की गायों के बीच में रहना चाहते हैं, पक्षी बनने पर इनकी इच्छा है कि वे कालिन्दी के तट पर उगे हुये कदम्ब के वृक्ष पर निवास करें और यदि उन्हें पाहन ही बनना पड़ा तो वे उस गोवर्धन पर्वत के पाहन बनें जिसे श्रीकृष्ण ने अपने हाथों पर उठाया था। ऐसी भावना अन्य किसी कवि की नहीं।

कृष्ण उनके प्रिय हैं और वे प्रेमी। उनकी भक्ति 'कान्तासक्ति' के अन्तर्गत रक्खी जा सकती है।

रसखान का वर्ण्य विषय है, कृष्ण प्रेम। आत्मनिवेदन और कृष्ण-प्रेम ही उनके काव्य-साहित्य की अभिव्यक्ति के विषय हैं।

शैली-सौन्दर्य

भाषा--रसखान जी की भाषा ब्रजभाषा है। मुसलमान होते हुए भी इन्होंने अत्यन्त सरल भाषा में रचना की है। संस्कृत के प्रचलित शब्दों को भी इनके काव्य में स्थान मिला है।

छन्द

इनकी रचना में कवित्त, सवैया और दोहों का प्रयोग हुआ है। कुछ स्थलों पर सोरठा छन्द भी हैं।

प्रस्तुत संग्रह

प्रस्तुत संग्रह में इनके कामना-सम्बन्धी तीन कवित्त हैं और भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति करने वाले चार सवैये हैं। इनसे इनकी कविता के भाव-पक्ष का परिचय मिलता है।

ग्रन्थ

प्रेमवाटिका, सुजान-रसखान तथा राग-रत्नाकर।

सुजान रसखान

सवैया

मानुष हौं, तो वही रसखानि,
बसौं ब्रज गोकुल-गाँव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो धर्‌यो कर क्षत्र पुरन्दर-धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन ॥१॥

या लकुटी अरु कामरिया पर,
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।
आठहूँ सिद्धि नवौं निधि को सुख,
नन्द की गाय चराइ बिसारौं ॥
इन आँखिन सों रसखान कबौं,
ब्रज के वन-बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिक ही कलधौंत के धाम,
करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥२॥

सेस महेस गनेस दिनेस,
सुरेसहुँ जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनंत अखंड,
अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥

नारद से सुक व्यास रटैं,
पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ,
छछिया भरि छाछ पर नाच नचावैं ॥३॥

धूरि-भरे अति सोभित श्यामजू,
कैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत-खात फिरैं अँगना, पग
पैंजनी बाजती, पीरी कछौटी ॥

वा छवि को रसखान, विलोकत,
वा रत काम-कलानिधि कोटी ।
काग के भाग कहा कहिए, हरि-
हाथ सों लै गयो माखन-रोटी ॥४॥

सोहत हैं चँदवा सिर मोर के,
जैंसिये सुन्दर पाग कसो है ।
तैंसिये गोरज भाल विराजति,
जैसी हियें वनमाल लसी है ।

रसखानि विलोकति बौरी भई,
दृग मूँदिकै ग्वारि पुकारि हँसी है ।
खोल-री घूंघट, खोलौं कहा,
वह मूरति नैननि माँझ बसी है ॥५॥

कानन दै अँगुरी रहिबो,
जबहीं मुरली-धुनि मन्द बजैहैं ।
मोहिनी तानन सों रसखानि,
अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै ।

टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि,
काल्हि कोऊ कितनी समुझैहै ।
माई री, वा मुख की मुसकानि,
सँभारि न जैहै, न जैहै न जैहै ॥६॥

द्रौपदि औ गनिका गज गीध,
अजामिल सों कियों सों न निहारो ।
गौतम-गेहिनी कैसे तरी,
प्रहलाद को कैसे हरयो दुख भारो ॥

काहे को सोच करै रसखानि,
कहा करिहै रविनंद विचारो ।
कौन को संक परी है जु माखन—
चाखन हारो है राखनहारो ॥७॥

बैन वही उनको गुन गाइ,
औ कान वही, उन बैन सों सानी,
हाथ वही, उन गात सरैं,
अरु पाइ वही, जु वही अनुजानी ॥

जान वही उन प्रान के संग, औ
मान वही जु करै मन-मानी ।
त्यों रसखानि, वही रसखानि,
जु है रसखानि, सो है रसखानी ॥८॥

८. भूषण

जन्म-सम्वत् : १६७० वि०　　　　　　　　　　　मृत्यु-सम्वत् : १७७०

काव्य-प्रेरणा

मुगलों के शासन-काल में हिन्दू राजा विलासी और अकर्मण्य हो गये, उनमें न तो स्वाभिमान रह गया था, न स्वदेश-प्रेम। जनता भी विलासिता के रंग में रंगी थी। साहित्य की भी यही दशा थी। जन-साधारण से उनका सम्बन्ध विच्छिन्न सा हो गया था और अधिकाँश कवि अपने आश्रयदाता राजा या सामन्त की तुष्टि के लिए शृंगारिक पदों की रचना करते थे। कृष्ण और राधा को लेकर उत्तान शृंगारिक रचनायें होती थीं जिनमें कला कौशल पर ही प्रमुख ध्यान दिया जाता था। कवियों ने यह सोचा था कि "आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न तो राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।"

ऐसे युग में महाकवि भूषण की रचना का विशेष महत्व है। एक ओर महाराजा शिवाजी औरंगजेब को चुनौती दे रहे थे, दूसरी ओर भूषण अपने समय के साहित्य की प्रमुख धारा के विपरीत वीर-रस में रचना कर रहे थे। यद्यपि युग की प्रवृत्तियों से वे सर्वथा मुक्त न हो सके, फिर भी उन्होंने अपने काव्य में नवीन स्फूर्ति भरी है।

जीवन-वृत्ति

अधिकांश भारतीय कवियों की तरह भूषण ने भी अपने सम्बन्ध में बहुत कम कहा है। उनकी रचनाओं में केवल इतना ही पता चलता है कि वे काश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और तिकवाँपुर उनका निवास स्थान था। भूषण, चिन्तामणि और मतिराम के भाई थे। कुमायूँ के इतिहास में राजा उदोतचन्द्र के वर्णन में सितारागढ़ नरेश के कवि

मनिराय का उल्लेख है, इसी आधार पर श्री भागीरथ प्रसाद दीक्षित [illegible] मनिराय दीक्षित मानते हैं।

भूषण के जन्मकाल के विषय में मतभेद है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सम्वत् १६७०, मिश्रबन्धु के अनुसार सम्वत् १६७१ और शिवसिंह "सेंगर" तथा पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित के अनुसार सम्वत् १७३८ में भूषण का जन्म हुआ था। अन्तिम विद्वान उन्हें शिवाजी का समकालीन न मानकर उनके पौत्र साहुजी का दरबारी मानते हैं। दीक्षित जी अपने पक्ष के समर्थन में कई तर्क रखते हैं। 'शिवराज भूषण' की समाप्ति यदि १७३७ में हुई मानी जाय तो भूषण का जन्म-काल १६७० मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

काव्य-परिचय

भूषण के चरित्र-नायक महाराष्ट्र के गौरव शिवाजी तथा पन्ना नरेश छत्रसाल हैं। दोनों ने ही औरंगजेब तथा मुगल साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध किया। वे आदर्श थे, वीर थे, अपनी मातृभूमि के लिए सब कुछ बलिदान करने का साहस उन वीरों में था। महाराजा शिवाजी शूरवीर तो थे ही, दानवीर भी थे। गुणग्राहकता तो उनमें थी ही। छत्रसाल में भी दानशीलता और गुणग्राहकता थी। भूषण की कविता युद्ध-वर्णन और कीर्ति-गान से भरी हुई है।

भूषण राष्ट्रीय कवि थे। उनके नायक शिवाजी औरंगजेब के शत्रु इसलिए थे कि वह अत्याचारी था, न कि इसलिए कि वह मुसलमान था। उनकी सेवा में मुसलमान भी थे और औरंगजेब के साथी जसवन्तसिंह जैसे हिन्दू भी थे। शिवाजी हिन्दू थे, इसलिये हिन्दुओं की प्रशंसा उन्होंने की है, किन्तु केवल हिन्दू होने के कारण ही शिवाजी उनकी प्रशंसा के पात्र नहीं बने थे, शिवाजी राष्ट्र के संगठन-कर्त्ता थे, अत्याचारियों का संहार करने वाले थे, इसीलिए स्तुत्य थे। भूषण हिन्दू-राष्ट्र का संगठन चाहते थे और शिवाजी उस कार्य में संलग्न थे ही।

भूषण ने अपने आश्रयदाताओं की दानवीरता तथा उदारता का वर्णन किया है। शिवाजी की दानवीरता प्रसिद्ध है, इतिहासकारों ने भी इसे स्वीकार किया है। उनकी दानशीलता का जो वर्णन भूषण ने किया है उसे अतिरञ्जित नहीं कहा जा सकता है।

शैली-सौंदर्य

भाषा—तत्कालीन काव्य-भाषा व्रजभाषा ही भूषण की भाषा है। व्रजभाषा का प्रचार इतना व्यापक हो गया था कि उसके कई रूप हो गये थे। भूषण कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील के रहने वाले थे इसलिए उनकी भाषा में कुछ स्थानीय पुट भी आ गया था।

भूषण ने फ़ारसी-अरबी का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि विदेशी शब्द उस समय शिष्ट समाज में प्रचलित थे। किन्तु वे विदेशी के तत्सम रूपों के प्रयोग करने के पक्षपाती न थे। तसबीह, खलक ऐसे शब्दों के अतिरिक्त उन्होंने विदेशी शब्दों को तोड़-मरोड़ कर ही रखा है: जैसे सरजाह का सरजा, बेहत का विहद आदि।

भूषण ने जन-भाषा (बोलियों) के शब्दों को स्वाधीनतापूर्वक अपनाया है। खड़ी बोली का प्रयोग भी कहीं-कहीं किया है—देखत में खान रुस्तम जिन खाक किया।

"बैयर बगारन की" (बुन्देलखण्डी) और "काल्हि के जोगी" (बैसवाड़ी) जैसे प्रयोग भी मिल जायेंगे।

भूषण की भाषा को कुछ विद्वान खिचड़ी कहते हैं। शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की प्रवृत्ति की सभी आलोचना करते हैं। उनके इस दोष की पूर्ति भाषा के ओज द्वारा हो जाती है।

रस

भूषण के काव्य में वीर-रस की प्रधानता है। दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर चारों प्रकार के उदाहरण उनके काव्य में मिल जाते हैं। वीर-रस के सहायक, भयानक और रौद्र-रस भी वर्तमान हैं।

अलंकार-योजना

भूषण की प्रमुख रचना "शिवराज भूषण" में अलंकार के लक्षण और उदाहरण हैं। इसका कारण उस समय की प्रवृत्ति ही है। सभी उदाहरणों में शिवाजी की प्रशंसा है। रसवादी कवि होने के कारण भूषण के अलंकार-लक्षण कहीं-कहीं अशुद्ध हो गये हैं और उदाहरण मूल लक्षण के अनुसार नहीं रह पाए। इतने पर भी "शिवराज भूषण" की प्रसिद्धि अलंकार-ग्रन्थ के रूप में मानी जाती है।

प्रस्तुत-संग्रह

इस संग्रह में वीर-रस के उत्तम उदाहरण दिये गए हैं। भूषण के चरित नायक शिवाजी तथा छत्रसाल की वीरता का वर्णन इन छन्दों में किया गया है।

ग्रंथ

शिवराज-भूषण, छत्रसाल दशक, शिवा बावनी।

शिवाजी का प्रताप

तेरो तेज सरजा समत्थ ! दिनकर सोहै,
दिनकर सोहै तेरे तेज के निकर सो।
भोंसिला भुआल ! तेरो जस हिमकर सोहै,
हिमकर सोहै तेरे जस के अकर सो॥
'भूषन' भनत हैं तेरो हियो रत्नाकर सो,
रतनाकरो है तेरो हियो सुख कर सो।
साहि के सपूत सिवसाहि दान तेरो कर,
सुरतरु सोहै, सुरतरु तेरो कर सो ॥१॥
सिंह थरि जाने बिन जावली-जंगल-भठी,
हठी गज एदिल पठाय करि भटक्यो॥
'भूषन' भनत देखि भभरि भगाने सब,
हिम्मत हिये में धरि काहुवै न हटक्यो।

साहि के सिवाजी गाजी सरजा समत्थ महा,
मदगल अफजल पंजावल पटक्यो।
ता विगिरि ह्वै करि निकाम निज धाम कहूँ,
आकुत महाउत सुआँकुस लै सटक्यो ॥२॥
कवि कहैं करन, करनजीत कमनैत,
अरिन के उर माँहि कीन्हों इमि छेव हैं।
महत धरेस सव धराधर सेस ऐसो,
और धरा धरन को मेट्यो अहमेव हैं॥
'भूषन' भनत महाराज शिवराज तेरी,
राज काज देखि कोई पावत न भेव है।
कहरी यदिल, मौज लहरी कुतुव कहैं,
वहरी निजाम से जितैया कहै देव हैं॥३॥
(शिवराज भूषण से)

शिवाजी की वीरता

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं।
'भूषन' भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गब्बरन के रलत हैं॥
ऐल थैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठैल पैल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है॥१॥
बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव राने देस देस के।
नग भहराने ग्राम-नगर पराने सुनि,
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के॥

हाथिन के हौदा उकसाने कुंभ कुंजर के,
भौन को भजत अलि छूटे लट केस के ।
दल के दरारन ते कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात विहराने फन सेस के ।।२।।

सबन के ऊपर ही ठाढ़ों रहबे के जोग,
ताहि खरो कियो छै हजारिन के नियरे ।
जानि गैर मिसिल गुसैल गुसा धारि उर,
कीन्हों न सलाम न वचन बोले सिगरे ।।
'भूषन' भनत महावीर बलकन लागो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे ।
तमक ते लाल मुख सिवा को निरखि भये,
स्याह मुख नौरंग सिपाही मुख पियरे ।।३।।

छूटत कमान अरु गोली तीर बानन के,
मुसकिल होत मुरचान हूँ की ओट में ।
ताहि समै सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि परा हल्ला वीरवर जोट में ।।
'भूषन' भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किस्मति इहाँ लगि है जाकी भट झोट में ।
ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परै कोट में ।।४।।

बद्दल न होंहि दल-दच्छिन उमंडि आए,
घटा ये न होय इम शिवाजी हँकारी के ।
दामिकि-दमक नाहि खुले खग्ग वीरन के,
इन्द्र धनु नाहिं ये निसान हैं सवारी के ।।
देखि-देखि मुगलों की हरमै भवन त्यागें,
उझकि-उझकि उठै वहत बयारी के ।

दिल्लीपति भूल मति गाजत न घोर घन,
बाजत नगारे ये सितारे-गढ़धारी के ॥५॥
(शिवा बावनी से)

छत्रसाल का आतंक

रैया राव चंपति को चढ़ो छत्रसाल सिंह,
'भूषन' भनत गजराज जोम जमकैं।
भादौं की घटा सी उड़ि गरद गगन गिरे,
सेलै समसेरैं फिरैं दामिनि सी दमकैं॥
खान उमरावन के आन राजा-रावन के,
सुनि सुनि उर लागैं घन कैसी घमकैं।
बैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
लाँघती पगारन नगारन की घमकैं ॥१॥

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाती दोह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन बीच धँसि जाति मीन,
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के॥
रैया राव चंपत को छत्रसाल महराज,
'भूषन' सकत करि बखान यों बलन के।
पच्छी-पर छीने ऐसे परे पर छीने वीर,
तेरी बरछी ने वर छीने हैं खलन के ॥२॥

राजत अखण्ड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गजन हिय साल को।
जाहि के प्रताप सो मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को॥
साज सजि गज तुरी पैदर कतार दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को।
और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहु को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥३॥
(छत्रसाल दशक से)

९. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म-सम्वत् : १९०७ वि०　　　　　　　　　　मृत्यु-सम्वत् : १९४१ वि०

काव्य-प्रेरणा

हिन्दी साहित्य की धारा को मोड़कर पुनः जीवन के धरातल पर बहाने का श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को है। रीति परम्परा ने साहित्य को केवल प्रदर्शन की वस्तु बना दिया था, उसमें न तो जीवन की समस्यायें थीं और न भावना की तन्मयता, था केवल चमत्कार-प्रदर्शन। प्रारम्भ के कुछ कवि तो प्रतिभा-सम्पन्न थे, किन्तु बाद के कवि पिछले कवियों के भावों में कुछ उलट-फेर करके एक नये छन्द अथवा अलंकार का उदाहरण बना देते थे। विक्रम की बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक परिवर्तन हुआ, पिछली शताब्दी का वास्तविक उद्देश्य प्रकट हो चुका था। महान् क्रान्ति के बाद भारतीयों का स्वभाव बदल गया। कुछ वर्षों से स्वाधीनता-प्राप्ति की आग भड़क रही थी, उसी के अनुरूप साहित्य में भी परिवर्तन हुआ। भारतेन्दु इस नवीन युग के अग्रनायक थे जिन्होंने स्वदेश-प्रेम की भावना को जगाने में महत्वपूर्ण योग दिया।

जीवन-वृत्त

भारतेन्दु जी का जन्म काशी के एक धनाढ्य वैश्य कुल में हुआ था। नौ वर्ष के अल्पवय में ही इनके पिता जी का देहान्त हो गया। किन्तु वे भारतेन्दु को आशीर्वाद दे चुके थे कि तू मेरा नाम बढ़ायेगा। भारतेन्दु जी ने पाँच वर्ष की अल्पावस्था में पहला दोहा बनाया था। स्कूल की पढ़ाई में इनका मन न लगा। इन्हें अंग्रेजी की शिक्षा राजा शिवप्रसाद जी ने दी थी। ज्ञात होता है कि अपने पिता श्री गोपालदास

(उपनाम गिरधरदास) की प्रतिभा इन्हें विरासत में मिली थी और उस प्रतिभा को अपनी साधना से इन्होंने अधिक विकसित किया।

भारतेन्दु जी ने शैशव में सन् १८५७ का विद्रोह देखा था। उसका इन पर प्रत्यक्ष रूप से असर पड़ा। इन्होंने जीवन भर स्वदेश-प्रेम और स्वधर्म की भावना का प्रचार किया। इनके नाटकों में अधिकांश देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत हैं। 'नील देवी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों में कई मार्मिक पद हैं। "कहाँ करुणानिधि केशव सोये" से प्रारम्भ होने वाला पद अत्यन्त मार्मिक है। इनके 'दो सुखने', 'मुकरियाँ', 'लावनी' आदि में देश-प्रेम की भावना भरी हुई है। 'नील देवी' की भूमिका पढ़ने से इनके विचारों का पता चलता है।

भारतेन्दु स्वभावतः बड़े दयालु थे। "जो धन इनके पुरखों को खा गया, उसे इन्होंने सहज ही खा डाला।" इनके बारे में अनेक कथायें चल पड़ी हैं। वे कवियों को दिल खोल कर पुरस्कार देते थे।

सम्वत् १९२५ वि० में इन्होंने "कविवचन सुधा" पत्रिका निकाली जिसमें कविता के अतिरिक्त सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर भी लेख निकलते थे। इन्होंने उसी वर्ष एक दातव्य औषधालय खोला। सम्वत् १९२७ में उन्होंने 'कविता वर्द्धिनी' नामक सभा स्थापित की। सम्वत् १९३० में 'तदीय-समाज' की स्थापना की जिसके सभासद भारत के प्रसिद्ध धार्मिक व्यक्ति थे।

काव्य-परिचय

भारतेन्दु की रचनाओं को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) भक्ति-सम्बन्धी—इस प्रकार की कविताओं में उन्होंने कृष्ण की भक्ति के गीत गाये हैं। "ब्रज के लता पता मोंहि कीजै" से आरम्भ होने वाले पद में रसखान की सी भावनायें हैं।

(२) प्रेम-सम्बन्धी—इन कविताओं को हम रीतियुगीन कविताओं से प्रभावित मान सकते हैं। इनमें प्रेम की मार्मिक व्यंजना हुई है।

(३) नाटकों के गीत, स्वदेश-प्रेम सम्बन्धी तथा फुटकर रचनाएँ— नाटकों के गीत विभिन्न अवसरों पर कथा-वस्तु के अनुसार ही जोड़े गए हैं। स्वदेश-प्रेम सम्बन्धी कवितायें भी कुछ नाटकों में हैं। इनकी मुकरियाँ बड़ी ही सुन्दर हैं। ग्रेजुएट का एक चित्र देखिए :—

तीन बुलाए तेरह आवैं। निज निज विपदा रोय सुनावैं।
आँखी फूटं भरा न पेट। क्यों सखि सज्जन ? नहिं ग्रेजुएट ॥

ये स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के पक्षपाती थे। ददरी के मेले में उन्होंने जो भाषण दिया था वह अत्यन्त ओजस्वी था। यह कहना कि भारतेन्दु युग के साहित्यकारों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय नहीं हुआ था भारतेन्दु जैसे कवियों के साथ अन्याय करना है। उनमें देश-प्रेम था और वह उनकी रचनाओं में भी व्यक्त हुआ है।

शैली-सौन्दर्य

भारतेन्दु ने खड़ी बोली में कुछ ही कविताएँ लिखी थीं। कविता के लिए ये ब्रजभाषा ही उपयुक्त समझते थे। इनकी भाषा में ओज भी है किन्तु अधिकांश स्थलों पर प्रसाद और माधुर्य भी मिलता है। काव्य में व्यंजना से भी सहायता ली गई है।

छन्दों की दृष्टि से भारतेन्दु का महत्व इस बात में है कि उन्होंने "लावनी" का प्रवेश हिन्दी कविता में कराया। उनके अधिकांश पद संगीतात्मक हैं और ललित शब्दों से पूर्ण हैं।

अलंकार-योजना में कोई विशेष नवीनता नहीं है, रीतिकालीन और भक्तिकालीन उपमानों का ही उन्होंने प्रयोग किया है।

भारतेन्दु का महत्व

आधुनिक हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अत्यन्त महत्व-पूर्ण स्थान है। वे आधुनिक गद्य के जन्मदाता हैं और आधुनिक कविता की भी नींव डालने वाले हैं। उन्होंने नवीन विश्रयों पर अनेक प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं।

भारतेन्दु के ग्रन्थ

प्रमुख नाटक—भारत दुर्दशा, नील-देवी, अन्धेर नगरी, चन्द्रावली, सत्य हरिश्चन्द्र ।

काव्य-ग्रन्थ—प्रेमफुलवारी ।

इतिहास—काश्मीर कुसुम आदि ।

भक्ति

भरति नेह नवनीर नित, बरसत सुरस अथोर ।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥१॥
जेहि लहि कै कछु लहन की, आस न जिय में होत ।
जयति जगत-पावन-करन, प्रेम बरन यह दोत ॥२॥
चंद मिटै, सूरज मिटै, मिटै जगत के नेम ।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, मिटै न अविचल प्रेम ॥३॥
मोरौ मुख घर-ओर सों, तोरौ भव के जाल ।
छोरौ सब साधन सुनौ, भजौ एक नंदलाल ॥४॥
श्रीवल्लभ वल्लभ कहौ, छाँड़ि उपाय अनेक ।
जानि आपुनो राखि हैं, दीनबन्धु की टेक ॥५॥
श्री जमुनाजल पान करु, बसु बृन्दावन धाम ।
मुख में महाप्रसाद रखु, लै श्री वल्लभ-नाम ॥६॥
तन पुलकित रोमांच करि, नैननि नीर बहाव ।
प्रेम मगन उन्मत्त ह्वै, राधा राधा गाव ॥७॥
सब दीनन की दीनता, सब पापिन को पाप ।
सिमिट आइ मोमें रहो, यह मन समुझहु आप ॥८॥
प्राननाथ, ब्रजनाथजू, आरतिहर, नंदनंद ।
साईं भुजा भरि राखिए, डूबत भव हरिचंद ॥९॥

साधुन को संग पाइकै, हरि जसु गाइ-बजाइ।
नृत्य करत हरि प्रेम में, ऐसैं जनम विहाइ ॥१०॥

वन्दना

जय जय नंदानंदकरन, वृषभानु - मान्यतर।
जयति जसोदा-सुवन, कीर्तिदा-कीर्ति-दानकर ॥
जय श्री राधा-प्राननाथ, प्रनतारतिभंजन।
जय वृन्दावनचंद्र, चंद्रवदनी मन रंजन ॥
जय गोपति, गोपति, गोपपति, गोपीपति, गोकुल-सरन।
जय कष्टहरन, करुनाभरन, जय श्री गोवर्धन-धरन ॥११॥

प्रेम

दीन दयाल कहाइकैं धाइकैं,
दीननि सों क्यों सनेह कढ़ायौ।
त्यों 'हरिचंद जू' वेदनि में करुना-
निधि नाम कहौ क्यों गनायौ ॥
ऐसी रुखाई ना चाहिए तापै,
कृपा करिकै जेहि को अपनायौ।
ऐसो ही जोपै सुभाव रह्यो,
तो 'गरीब-नेवाज' क्यों नाम धरायो ॥१॥

यह संग लगी लगी डोलैं सदा,
बिन देखैं न धीरज आनती हैं।
छिनहूँ जो वियोग परै 'हरिचंद',
तो चाल प्रलय की सुठानती हैं ॥
बरुनी में फिरैं न झपैं, उझपैं,
पल में न समाइवो जानती हैं।
पिय प्यारे, तिहारे निहारे बिना,
अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं ॥२॥

व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन
हैं, हमहूँ पहिचानती हैं।
पै बिना नँदलाल बिहाल सदा,
'हरिचंद', न ग्यानहिं ठानती हैं॥

तुम ऊधौ! यहै कहियो उनसों,
हम और कछू नहिं जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना,
अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥३॥

वह सुन्दर रूप बिलोकि सखी,
मन हाथ तें मेरे भग्यो सो भग्यौ।
चित माधुरी मूरति देखत ही,
'हरिचंद जू' जाय पग्यौ सो पग्यौ॥
मोहिं औरन सौं कछु काम नहीं,
अब तौ जो कलंक लग्यौ सो लग्यौ।
रँग दूसरो और चढ़ैगो नहीं,
अलि, साँवरो रंग रंग्यौ सो रंग्यौ॥४॥

घेरि घेरि घन आय छाय रहे चहुँ ओर,
कौन हेतु प्राननाथ सुरति बिसारी है।
दामिनी दमक जैसी जुगनू चमक जैसी,
नभ में बिसाल बग-पंगति सँवारी है॥
ऐसे समैं 'हरिचंद' धीर न धरत नैकु,
बिरह-बिथा तें होति व्याकुल पियारी है।
प्रीतम पियारे, नंदलाल बिनु हाय! यह,
सावन की रात किधौं द्रौपदी की सारी है॥५॥

एक बेर नैन भरि देखैं जाहि मोहै तौन,
माच्यौ ब्रज-गाँव ठाँव-ठाँव में कहर है।

संग लगी डोलैं कोऊ घर में कराहैं परी,
छूट्यौ खान-पान रैन चैन बन घर है ॥
'हरिचंद' जहाँ सुनो तहाँ चरचा है यही एक,
प्रेम-डोर नाथ्यौ सगरो सहर है ।
यामैं न संदेह कछू दैया ! हौं पुकारि कहौं,
मैया की सी मैया री, कन्हैया जादूगर है ॥६॥

पूरन पियूष प्रेम आसव छकी हौं रोम—
रोम रस भीन्यौ सुधि भूली गेह गात की ।
लोक-परलोक छोड़ि लाज सों वदन मोड़ि,
उघरि नची हौं तजि संक तात मात की ॥
'हरिचंद', एतेहुँ पै दरस दिखावै क्यों न,
तरसत रैन बिना प्यासे प्रान पातकी ।
एरे ब्रजचंद, तेरे मुख की चकोर हूँ मैं,
एरे घनस्याम, तेरे रूप की हौं चातकी ॥७॥

काले परे कोस, चलि-चलि थकि गए पाँव,
सुख के कसाले परे, ताले परे नस के ।
रोय-रोय-नैननि में हाले परे, जाले परे,
मदन के पाले परे, प्रान परबस के ॥
'हरिचंद' अंगहू हवाले परे रोगन के,
सोगन के भाले परे, तन पल खसके ।
पगन में छाले परे, नाँघिबे को नाले परे,
तऊ लाल, लाले परे, रावरे दरस के ॥८॥

१०. जगन्नाथदास "रत्नाकर"

जन्म-सम्वत् : १९३३ वि०   मृत्यु-सम्वत् १९८९ वि०

काव्य-प्रेरणा

'रत्नाकर' जी के पिता श्री पुरुषोत्तमदास अग्रवाल हिन्दी काव्य के प्रेमी थे और आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मित्र थे। 'रत्नाकर' जी इसी वातावरण में बड़े हुए थे। भारतेन्दु जी का आशीर्वाद प्राप्त कर इन्होंने काव्य-रचना प्रारम्भ की और उन्हीं के प्रभाव के कारण वे खड़ी बोली के युग में भी व्रजभाषा में रचना करते रहे।

जीवन-वृत्त

'रत्नाकर' जी के पूर्वज मुगल-साम्राज्य के प्रमुख अधिकारी थे और दिल्ली में ही रहते थे। इनके प्रपितामह श्री तुलाराम जी काशी में आकर रहने लगे थे, वहीं 'रत्नाकर' जी का जन्म हुआ। 'रत्नाकर' जी फ़ारसी के प्रेमी थे और फ़ारसी लेकर इन्होंने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इन्होंने एम० ए० में फ़ारसी लेकर अध्ययन किया किन्तु अन्तिम परीक्षा न दे सके।

विद्यार्थी जीवन की समाप्ति के बाद इन्होंने आवागढ़ में दो वर्ष तक (सम्वत् १९५७ के लगभग) कार्य किया किन्तु जलवायु की प्रतिकूलता ने इन्हें वह स्थान छोड़ने को बाध्य कर दिया। इसके अनन्तर अयोध्या-नरेश ने इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बना लिया। उनके स्वर्गवास के बाद (सम्वत् १९६३) से मृत्यु-पर्यन्त अयोध्या की महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। संवत् १९८९ में आषाढ़ सौर सप्तमी को इनका स्वर्गवास हरद्वार में हो गया।

'रत्नाकर' जी बड़े ही विनोद-प्रिय और हँसमुख व्यक्ति थे। उन्हें

आधुनिकता से कोई मोह न था। वे सादगी-पसन्द व्यक्ति थे। हिन्दी की उन्होंने आजन्म सेवा की। नागरी प्रचारिणी सभा को उन्होंने महारानी अयोध्या से प्राप्त १००० रुपये की पुरस्कार राशि समर्पित कर दी थी। सम्वत् १९७९ में कलकत्ता में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वे सभापति रहे थे। "सरस्वती" के प्रकाशन के समय सम्पादकों में उनका भी नाम था।

'रत्नाकर' जी ने अन्तिम समय "सूरसागर" के सम्पादन का कार्य अपने हाथ में लिया था, किन्तु वह कार्य हिन्दी के दुर्भाग्य से पूर्ण न हो सका। इस कार्य के लिए इन्होंने अपने पास से कई हजार रुपये व्यय किये थे।

काव्य-परिचय

'रत्नाकर' जी का काव्य पौराणिक आख्यानों पर आधारित है। कृष्ण के मित्र उद्धव ब्रज में गोपियों को ज्ञान-दान देने के लिये गये थे पर वे स्वयं उन्हीं के रंग में रंग गये—'उद्धव-शतक' इसी घटना से सम्बन्धित काव्य है। "गंगावतरण" में राजा भगीरथ की तपस्या से गंगा के पृथ्वी पर आने का चित्र है। 'हरिश्चन्द्र' में सत्यव्रत हरिश्चन्द्र के जीवन का महान आदर्श है। उनके काव्य में जीवन के प्रति कोई मौलिक दृष्टि नहीं है, किन्तु प्राचीन आदर्शों को उन्होंने अत्यन्त आकर्षक रूप से सामने रखा है।

'रत्नाकर' जी कृष्ण के भक्त थे। कृष्ण के प्रेम की कथा उन्होंने "उद्धव-शतक" में हमारे सामने रखी है। उनकी भक्ति में सूखी-सी रस-मयता है, साथ ही साथ भाव-चित्र की सूक्ष्मता भी उनमें है। "उद्धव-शतक" में विरह का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन हुआ है। उनकी वर्णन-शैली में नवीनता है। जितनी सुन्दर सूक्तियाँ "उद्धव-शतक" में हैं, उतनी सूर के भ्रमर गीत प्रसंग में ही देखी जा सकती है, अन्यत्र नहीं।

'रत्नाकर' जी भावों का चित्रण करने में अत्यधिक सफल हुए हैं। कृष्ण जी की आकुलता का कितना सुन्दर वर्णन है :—

नेकु कही बैनन, अनेक कही नैनन सों।
रही सही सोई, कहि दीनी हिचकीनि सों॥

क्रोध, उत्साह, शोक आदि का भी सफल चित्रण उन्होंने किया है।

प्रकृति चित्रण

'रत्नाकर' जी के प्रकृति-चित्रण में प्रकृति के आरोपित तथा स्वतन्त्र दोनों रूप मिल जाते हैं। अधिकांश स्थलों पर उन्होंने प्रकृति को मानवीय भावनाओं के अनुकल मनोविज्ञान से सम्पन्न किया है, पर प्रकृति के उन्मुक्त चित्रों का भी अभाव नहीं, जैसे बादलों का प्रस्तुत दृश्य देखिए:—

झूमि-झूमि झुकत उमंडि नभ-मंडल में,
घूमि-घूमि चहुँधा घमण्डि घटा वहरैं।
कहैं, 'रत्नाकर' त्यों दामिनि दमंकि दुरैं,
दिसि दिसि तानि दौरि दिव्य छटा छहरैं॥

प्रकृति-चित्रण में 'रत्नाकर' जी ने सफलता प्राप्त की है। ऋतु-वर्णन में उन्होंने मौलिक चित्र भी प्रस्तुत किए हैं और कुछ परम्परागत भी।

शैली-सौंदर्य

चित्रात्मकता—'रत्नाकर' जी की प्रमुख विशेषता यह है कि वे जब किसी वस्तु का वर्णन करते हैं तो अध्ययन की सूक्ष्मता और अनुभूति की सत्यता के कारण उसका चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। "गंगावतरण" में गंगा के अवतरण का चित्र हमारी कल्पना के नेत्रों के सामने आ जाता है।

गीति-तत्व—'रत्नाकर' जी की रचनाओं को पढ़ते समय उनकी ध्वनि हमको प्रभावित करती है। प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में उद्धृत अंश में बादलों के गरजने की ध्वनि हमारे सामने आ जाती है। "उद्धव-शतक' में भी गीति-तत्व वर्तमान है।

भाषा—लक्षण और व्यञ्जना इन दोनों शब्द-शक्तियों के सहारे उन्होंने भाषा और भाव का मंजुल समन्वय उपस्थित किया है। उनकी ब्रजभाषा सूर की ब्रजभाषा से भिन्न है, उसमें विशेष प्रवाह है। सूर के माधुर्य को उन्होंने ओज भी प्रदान किया है।

रस—'रत्नाकर' जी ने शृंगार रस को प्रमुख स्थान दिया है। उसके

दोनों पक्षों का परिपाक 'रत्नाकर' जी के काव्य में हुआ है। वीर रस के उत्कृष्ट उदाहरण भी उनके काव्य में मिल जाते हैं।

अलंकार—'रत्नाकर' जी की कविताएँ अलंकार के भार से दबी हुई नहीं हैं, किन्तु अलंकारों ने उनके काव्य की स्वाभाविक शोभा-वृद्धि की है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही हैं। यमक-अनुप्रास, उपमा-रूपक, श्लेष, असंगति, व्यतिरेक, अपह्नुति आदि अलंकारों ने भावों को विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है।

छन्द योजना—'रत्नाकर' जी छन्द रचना में अत्यन्त कुशल हैं। रोला छन्द में आपने 'गंगावतरण' की रचना की है। सवैया भी आपने लिखे हैं।

महत्व—'रत्नाकर' जी ब्रजभाषा के अन्तिम प्रमुख कवि हैं।

प्रस्तुत-संग्रह—इस संग्रह में "उद्धव-शतक" के वे छन्द हैं, जिनमें गोपियों ने उद्धव को अपने कृष्ण-प्रेम का परिचय दिया है। भावों की सुकुमारता तथा शैली का प्रवाह बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है।

ग्रन्थ—हिंडोला, साहित्य-रत्नाकर, हरिश्चन्द्र, शृंगार-लहरी, वीराष्टक, गंगावतरण, उद्धव-शतक आदि मौलिक काव्य ग्रन्थ।

संपादित—विहारी-रत्नाकर, कविकुल-कंठाभरण तथा सूरसागर आदि।

उद्धव गोपी संवाद

नंद औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।
कहै "रत्नाकर" सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी,
मंजु मृग नैननि के गुन-गन गावती॥
जमुना-कछारिन की रंग-रस-रारनि की,
विपिन विहारनि की हौंस हुमसावती।
सुधि-ब्रजवासिन दिवैया-सुख-रासिन की,
ऊधौ, नित हमकौं बुलावन कौ आवती॥१॥
रूप-रस पीवत अघात ना हुते जो तब,
सोई अब आँसू ह्वै उबरि गिरवौं करैं।

कहैं 'रतनाकर' जुड़ात हुते देखैं जिन्हें,
याद किए तिनकौं अंवाँ सौं घिरिबौ करैं ।।
दिनन के फेर सौं भयो हैं हेर-फेर ऐसो,
जाकौं हेरि फेरि हेरिबोई हिरिबौ करैं ।
फिरत हुते जू जिन कुंजनि में आठों जाम,
नैंननि में अब सोई कुंज फिरिबौ करैं ।।२।।

मोर के पखौवनि कौ मुकुट छबीली छोरि,
क्रीट मन-मंडित धराइ करिहैं कहा ।
कहैं 'रतनाकर' त्यों माखन-सनेही बिनु,
षट-रस व्यंजन चबाइ करिहैं कहा ।।
गोपी ग्वाल बालन कौ झोंकि बिरहानल में,
हरि सुर-वृन्द की बलाइ करिहैं कहा ।
प्यारो नाम गोविंद गुपाल कौ बिहाइ हाय,
ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा ।।३।।

प्रेम-नेम निफल निवारि उर-अंतर तैं,
ब्रह्म-ज्ञान आनंद-निधान भरि लैहैं हम ।
कहैं 'रतनाकर' सुधाकर-मुखीनि-ध्यान,
आँसुनि सौं धोइ जोति जोइ जर लैहैं हम ।।
आवो एक बार धरि गोकुल-गली की धूरि,
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम ।
मन सों, करेजे सौं स्रवन-सिर आँखिनि सों,
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम ।।४।।

भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गावनी में पावन जबै लगीं ।
कहैं 'रतनाकर' गुवालिन की झौंरि-झौंरि,
दौरि दौरि नन्द-पौरि आवन तबै लगीं ।।

उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं ।
हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा,
हमको लिख्यो है कहा कहन सबै लगीं ॥५॥

षट रस-व्यंजन तौ रंजन सदा ही करैं,
ऊधौ, नवनीति हूँ स-प्रीति कहूँ पावै हैं ।
कहैं 'रतनाकर' विरद तौ बखानै सबै,
साँची कही केते कहि लालन लड़ावैं हैं ॥
रतन सिंहासन विराजि पाकसासन लौं,
जग-चहूँ-पासनि तौ सासन चलावै हैं ।
जाइ जमुना-तट पै कोउ वट-छाँहि माँहि,
पाँसुरी उमाहि कबों बाँसुरी बजावै हैं ॥६॥

कर बिनु कैसे गाय दुहिहैं हमारी वह,
पद-बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाइहैं ।
कहैं 'रतनाकर' बदन-बिनु कैसे चाखि,
माखन, बजाइ वेनु गोधन चराइहैं ॥
देखि सुनि कैसे दृग स्रवन बिना ही हाय,
भोरे ब्रजवासिनि की विपति बराइहैं ।
रावरो अनूप कोउ अलख अरूप ब्रह्म,
ऊधौ कहौ कौन धौं हमारे काम आइहैं ॥७॥

आए हौ पठाए व छबीले छलिया के इतै,
बीस-बिसै ऊधौ बीरबावन कलाँच ह्वै ।
कहैं 'रतनाकर' प्रपंच ना पसारौ गाढ़ै,
बाढ़ै पै रहौगे साढ़े बाइस ही जाँच ह्वै ॥
प्रेम अरु जोग में है जोग छठैं आठैं परचो,
एक ह्वै रहैं क्यों दोऊ हीरा अरु काँच ह्वै ।
तीन गुन पाँच तत्व बहकि बतावत सो,
जैहै तीन तेरह तिहारी तीन-पाँच ह्वै ॥८॥

११. मैथिलीशरण गुप्त

जन्म-सम्वत् : १९४३ वि०　　　　　　　　मृत्यु-सम्वत् : २०२१ वि०

काव्य-प्रेरणा

सम्वत् १९५७ के बाद देश में राष्ट्रीय चेतना की मात्रा बढ़ती गई। भारतीय अपना उत्तरदायित्व समझने लगे और उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लिया। यह चेतना राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित न रही, समाज और साहित्य भी उससे प्रभावित हुए। इस आन्दोलन के साथ हिन्दी का महत्व बढ़ता गया और हिन्दी के साहित्यकार इससे परिचित होकर साहित्य में सामयिक प्रवृत्तियों का अधिक समावेश करने लगे। इसी समय श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी अवतरित हुए, जिन्हें हिन्दी के "आधुनिक महारथी" के रूप में समझा जाता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य की नीति निर्धारित की और उसी नीति के अनुरूप उन्होंने तरुण कवियों और लेखकों को प्रेरित किया। उन्होंने अनेक कवियों को प्रेरणा प्रदान की। श्री मैथिलीशरण गुप्त उनमें सर्वप्रमुख थे।

जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व

मैथिलीशरण जी चिरगाँव (जिला झाँसी) के निवासी थे। उनके व्यक्तित्व को जाने बिना उनके काव्य को भलीभांति समझना असम्भव है। गुप्त जी की पारिवारिक आत्मीयता, उनका वैष्णव हृदय, राष्ट्र और देश-प्रेम, समन्वयशीलता और मानववादिता, प्राचीन संस्कार और आदर्श भावना, उनके काव्य को प्रभावित करते रहे। गुप्त जी को पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा मुंशी अजमेरी (जो उनके ग्रामवासी थे) से काव्य रचना में प्रेरणा और उत्साह प्राप्त हुआ।

गुप्त जी के पिता श्री रामचरण वैश्य काव्यानुरागी सज्जन थे।

बचपन में ही गुप्त जी ने उनकी कविता-पुस्तक में एक रचना लिख दी थी, जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने गुप्त जी को कवि बनने का आशीर्वाद दिया जो गुप्त जी के जीवन में सत्य सिद्ध हुआ।

सम्वत् १९६६ (सन् १९०९) में राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरित होकर वे काव्य के क्षेत्र में आये और तब से वे बराबर साहित्य की सृष्टि करते रहे।

काव्य-परिचय

गुप्त जी ने लगभग पैंतीस ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को दिये हैं। उनकी प्रथम कृति "रंग में भंग" है, जिसमें उनकी राष्ट्रीयता प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। अगले पांच वर्षों में उन्होंने "जयद्रथ-वध", "पद्य-प्रबन्ध", "भारत-भारती" और "विरहणी-ब्रजांगना" की रचना की। "भारत-भारती" के प्रकाशन (सं० १९७१ या सन् १९१४ ई०) से हिन्दी साहित्य में गुप्त जी का एक प्रमुख स्थान बन गया। "भारत-भारती" पूर्णतः राष्ट्रीय काव्य है, उसमें राजनैतिक पराभव के कारण उत्पन्न अनेक समस्याओं पर कवितायें लिखी गई हैं जो कुछ ही समय में प्रत्येक हिन्दी प्रेमी की जिह्वा पर आ गयीं। इन प्रारम्भिक कृतियों के बाद गुप्त जी ने "चन्द्रहास", "तिलोत्तमा" और "अनघ" नाटकों की रचना की। "तिलोत्तमा" बंगला का अनुवाद, "चन्द्रहास" पौराणिक नाटक और 'अनघ" एक भाव-नाट्य है। इसमें गुप्त जी की मानवीयता अधिक उभरी हुई है और अहिंसा का प्रभाव परिलक्षित होता है। "पंचवटी" और "विरहणी-ब्रजांगना" सम्वत् १९९४ की रचनायें हैं। इनमें "पंचवटी" का स्थान प्रमुख है। काव्य की दृष्टि से "पंचवटी" ही उनकी प्रथम सफल रचना है। आदर्श की भावना का स्थान यथार्थ ने ले लिया है। 'गुरुकुल' उदात्त-दृष्टि का परिचायक है जिसमें उन्होंने सिक्खों के गुरुओं का चित्रण किया है।

गुप्त जी की पूर्वोल्लिखित रचनायें द्विवेदी युग की प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं। हिन्दी साहित्य के कुछ प्रतिभाशाली कवियों ने द्विवेदी

युग की इतिवृत्तात्मकता का विरोध किया तो गुप्त ज़ी उससे भी प्रभावित हुए और उन्होंने छायावादी प्रयोग करते हुए "झंकार" की रचना की। प्रतीकों का आश्रय लेकर कवि ने गोपियों जैसे भाव अपने "नटनागर" के चरणों में अर्पित किये।

छायावादी युग का प्रभाव गुप्त जी पर स्थायी न हो सका।"झंकार" के अनन्तर गुप्त जी ने हिन्दी को एक श्रेष्ठ महाकाव्य (साकेत) दिया जिसमें राम की कथा है, किन्तु उसमें उपेक्षिता उर्मिला को प्रमुख स्थान मिला है। "यशोधरा" में गौतम बुद्ध की परित्यक्ता पत्नी का करुण चित्र है। "कावा और कर्बला" इस्लाम धर्म-सम्बन्धी है। "द्वापर" में कृष्ण के समकालीन पात्रों को लेकर उनके भावों की अभिव्यक्ति की गई है। "सिद्धराज" वीरगीतात्मक-काव्य है जिसमें सिद्धराज जयसिंह का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। "अर्चना" आदि ग्रन्थ गान्धीवाद से अनुप्रेरित हैं। सम्वत् २००८-९ में उन्होंने महाभारत के आख्यान को लेकर 'जय-भारत" की रचना की।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो गया है कि गुप्त जी की कृतियों में मानव-जीवन का व्यापक चित्रण है। बौद्ध, मुस्लिम, हिन्दू, सिक्ख सभी धर्मों को लेकर उन्होंने काव्य-रचना की है। उनकी दृष्टि में धार्मिक भेद-भाव की कोई स्थिति नहीं है। वे राम-भक्त हैं किन्तु उनमें समन्वयात्मक प्रवृत्ति की अधिकता है। उनके द्वारा उल्लिखित घटना जिसमें एक अतिथि कुछ समय में ही रामायण, आल्हा और देवी के छन्द सब कुछ सुना देता है, उनके काव्य के विषय में सत्य सिद्ध होती है।

चरित्र-चित्रण

गुप्त जी के चरित्रों में विविधता है। उन्होंने राम, लक्ष्मण जैसे चरित्र भी प्रस्तुत किये हैं और सिद्धराज जैसे भी। उनके नारी-चरित्र आदर्श हैं। उर्मिला, रानक दे, यशोधरा आदि के चरित्र लक्ष्मण, सिद्धराज और गौतम की अपेक्षा अधिक सफलता से प्रस्तुत किये गये हैं। अधिकांश चरित्र

आदर्श हैं किन्तु सिद्धराज जैसा चरित्र-नायक हिन्दी के लिये नया है। वह पराई स्त्री को प्राप्त करने के लिये युद्ध करता है, किन्तु उसके लिए उसे प्रायश्चित भी करना पड़ता है। पंचवटी के लक्ष्मण और सीता अपेक्षाकृत यथार्थोन्मुख हैं। उनका परिहास साधारण देवर-भाभियों का परिहास है, दैवी चरित्रों का नहीं। गुप्त जी की दृष्टि आदर्शवादी रही है। उनका उद्देश्य प्रभावपूर्ण है, जिसमें उनके ग्रन्थ सफल होते हैं।

प्रकृति-चित्रण

आधुनिक युग की विशेषता उनके प्रकृति चित्रण में है। प्रकृति का चित्रण केवल चित्रण के लिये ही नहीं किया गया है। "पंचवटी" प्रकृति के चित्रण की दृष्टि से उत्कृष्ट कृति है। रात्रि का अत्यन्त सुन्दर और मोहक वर्णन कवि ने किया है।

कुछ पंक्तियाँ :—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अम्बर तल में।।
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से।
मानों झूम रहे हों तरु भी, मन्द पवन के झोंकों से।।

अन्य स्थलों पर भी प्रकृति का सुन्दर चित्रण हुआ है।

शैली-सौन्दर्य

गीतात्मक—कवि में गीतात्मक प्रवृत्ति बाद की रचनाओं में है। महाकाव्यों से भी इस प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। उर्मिला की विरह-वेदना तथा यशोधरा के गीतों का नाद-सौंदर्य प्रशंसनीय है। इस प्रवृत्ति ने "द्वापर", "कुणाल गीत" आदि में अधिक प्रौढ़ रूप प्राप्त किया है।

भाषा

गुप्त जी ने खड़ी बोली को उस समय से अपनाया जब उसके समर्थक कम थे। उनकी भाषा सरल और सुबोध है, शब्द-चयन में उन्होंने अधिक सतर्कता के साथ काम लिया है। भाषा की दृष्टि से गुप्त जी में क्रमिक

विकास हुआ। आरम्भ में उन पर द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट है। प्रारम्भिक भाषा में गद्यवत् शुष्कता है, परन्तु वंग भाषा के प्रभाव से उनकी पदावली में पर्याप्त सरसता आयी। उनकी भाषा समय के साथ विकसित होती रही है। पद्यों में वार्त्तालाप प्रस्तुत करने में उन्हें सफलता मिली है।

ग्रन्थ

गुप्त जी का प्रिय छन्द हरिगीतिका है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य मात्रिक छन्दों का भी प्रयोग किया है। संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम ही है। 'सिद्धराज' अतुकान्त छन्द में है।

गुप्त जी हिन्दी के वयोवृद्ध कवि थे और उन्होंने लगभग पचास वर्षों तक हिन्दी की सेवा की। उन्होंने प्रबन्धात्मक शैली में भारतीय जीवन का सन्देश सुनाया है। उनकी काव्य-शैली जन-जीवन के निकट रही है।

प्रमुख ग्रन्थ

रंग में भंग, जयद्रथ-वध, पद्य-प्रबन्ध, भारत-भारती, पंचवटी, झंकार, हिन्दू, गुरुकुल, साकेत, यशोधरा, द्वापर, कुणालगीत, जय-भारत, विष्णु-प्रिया आदि काव्य-ग्रन्थ।

तिलोत्तमा, चंद्रहास, अनघ नाटक।

उर्मिला की कथा

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में, अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तूने, तू वह हीर-कनी,
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय विशिख-अनी!
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगंबु सनी,
तू ही उष्ण उसे रक्खेगी, मेरी तपन-मनी!
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्ट-जनी!
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी!

अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची-तनी,
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी,
तुझे तभी त्यागूँ जब सजनी, पाऊँ प्राणधनी ॥१॥

कहती मैं चातकि, फिर बोल ।
ये खारी आँसू की बूँदें दे सकती यदि मोल ।
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल ?
फिर भी, फिर भी, इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल !
श्रुति-पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ीं यहाँ पट खोल !
देख, आप ही अरुण हुए हैं, उनके पांडु कपोल !
जाग उठे हैं मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयं हिल-डोल,
और सन्न हो रहे, सो रहे ये भूगोल-खगोल ।
न कर वेदना-सुख से वंचित बढ़ा हृदय-हिंदोल,
जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल कल्लोल ॥२॥

निरख सखी, ये खंजन आए ।
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये ।
फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ ये यहाँ हंस उड़ छाये ।
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बंधूक सुहाये ।
स्वागत ! स्वागत शरद ! भाग्य से मैंने दर्शन पाये ।
नभ ने मोती वारे लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये ॥३॥

शिशिर, न फिर गिरि वन में ।
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नंदन में ।
कितना कंपन तुझे चाहिये, ले मेरे इस तन में,
सखी कह रही, पांडुरता का क्या अभाव आनन में ।

वीर, जमा दे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,
तो मोती-सा मैं अकिंचना रक्खूं उसको मन में।
हँसी गई, रो भी न सकूं मैं—अपने इस जीवन में,
तो उत्कंठा है देखूं फिर क्या हो भाव-भुवन में ।।४।।

यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।
प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूं, रहूँ निकट भी दूर,
व्यथा रहे, पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर।
हर्ष डूबा हो रोदन में,
यही आता है इस मन में।
बीच बीच में उन्हें देख लूं, मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लेटूं उसी धूल में लोट।
रहें रत वे निज साधन में,
यही आता है इस मन में।
जाती-जाती, गाती-गाती, कह जाऊँ यह बात,
धन के पीछे जन, जगती में, उचित नहीं उत्पात।
प्रेम की ही जय जीवन में,
यही आता है इस मन में ।।५।।

सीता का संतोष

निज सौध-सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।
सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ—यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।

सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा,
पुँजाकृति गुँजित कुंज घना है मेरा।
खल निर्मल, पवन पराग-सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ़-दिव्य वना है मेरा।
प्रहरी निर्झर परिखा प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रम-वारि विन्दु-फल स्वास्थ्य-शुक्ति फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।
तनु-लता-सफलता-स्वाद आज ही आया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

जिनसे ये प्रणयी प्राण त्राण पाते हैं,
जी भर कर उनको देव जुड़ा जाते हैं।
जव देव कि देवर विचर-विचर आते हैं,
तव नित्य नये दो एक द्रव्य लाते हैं।
उनका वर्णन ही वना विनोद सवाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

किसलय-कर स्वागत हेतु हिला करते हैं,
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं,
तृण-तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।
निधि खोले दिखला रही प्रकृति निज माया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

कहता है कौन कि भाग्य ठगा है मेरा ?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा।
कुछ करने में जब हाथ लगा है मेरा,
वन में ही तो गार्हस्थ्य जगा है मेरा।
वह वधू जानकी बनी आज यह जाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

फल-फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी,
वे हरी पत्तलें, भरी थालियाँ मेरी।
मुनि बालाएँ हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटिनी की लहरें और तालियाँ मेरी।
क्रीड़ा-सामग्री बनी स्वयं निज छाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

(साकेत से)

१२. अयोध्यासिंह उपाध्याय, "हरिऔध"

जन्म-सम्वत् : १९२२ वि०

मृत्यु-सम्वत् : २००४ वि०

काव्य-प्रेरणा

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवियों में से हैं। उन्होंने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में ही रचना की है। बोल-चाल की भाषा और संस्कृत-निष्ठ भाषा दोनों को ही उन्होंने काव्य का माध्यम बनाया और 'प्रिय-प्रवास' (जिसमें कृष्ण की कथा है) जैसे ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने भक्ति-भावना को नवीन दृष्टि से देखा है। राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव भी इन पर पड़ा है, यहाँ तक कि इनकी गोपियाँ भी समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होती हैं।

जीवन-वृत्त

'हरिऔध' जी का जन्म-स्थान निजामाबाद, जिला आजमगढ़ है। वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा के बाद ये क्वीन्स कालेज, बनारस गये किन्तु इनका अध्ययन अस्वस्थता के कारण आगे न चल सका। सम्वत् १९४२ में वे अपने गाँव के मिडिल स्कूल में अध्यापक हो गये। पाँच वर्ष बाद ये गिरदावर कानूनगो हो गये और सम्वत् १९८० में गवर्नमेन्ट सर्विस से अवकाश प्राप्त करके हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में हिन्दू विभाग में अवैतनिक अध्यापक हो गये और अन्त तक वहीं रहे।

श्री 'हरिऔध' जी उदार विचार के व्यक्ति थे। प्राचीन हिन्दू सभ्यता के वे अनन्य भक्त थे, किन्तु समाज-सुधार में उनका अटल विश्वास था।

साहित्यिक जीवन

उपाध्याय जी खड़ी बोली के सबसे पुराने कवि थे। द्विवेदी काल से लेकर सम्वत् २००४ तक वे हिन्दी की सेवा करते रहे। द्विवेदी जी का

प्रभाव 'हरिऔध' जी पर नहीं पड़ा था। उनका व्यक्तित्व अपने स्वतंत्र रूप में क्रियाशील रहा। उपाध्याय जी ने कृष्ण काव्य को अपना क्षेत्र चुना और इस प्रकार सूरदास जी का उत्तराधिकार सहज ही प्राप्त किया। वे उन कवियों में से हैं जिन्होंने खड़ी बोली हिन्दी काव्य की नींव रखने में योग दिया। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के सन्धिकाल के वे मूर्त स्वरूप हैं।

काव्य-परिचय

रीति-शास्त्र और संस्कृति के अध्ययन ने उनकी रचनाओं को विशेष प्रभावित किया। 'प्रिय-प्रवास' और 'रस-कलश' इसके उदाहरण हैं। 'हरिऔध' जी मनुष्य को सामाजिक इकाई के रूप में देखने के पक्षपाती थे। उनके प्रमुख ग्रन्थ 'प्रिय-प्रवास' में भी यही दृष्टिकोण मिलता है। जीवन की पूर्णता इनके ग्रन्थों में है। कुछ ग्रन्थ जैसे 'रस-कलश' में नायिका-भेद पर विचार करते समय इन्होंने नवीन नायिकाओं का समावेश किया है, जैसे समाज-सेवी नायिका आदि। इससे नायिका-भेद की मनोवैज्ञानिकता का भी परिष्कार हुआ है। इसका कारण उनकी समाज सुधार में रुचि होना है।

उपाध्याय जी कृष्ण-भक्त थे किन्तु जिस प्रकार राम-भक्त मैथिलीशरण गुप्त ने 'द्वापर' लिख कर कृष्ण काव्य में अपनी रुचि प्रदर्शित की, उसी प्रकार उपाध्याय जी ने भी 'वैदेही वनवास' की रचना की। इससे उनके विचारों की उदारता का समर्थन होता है।

'हरिऔध' जी की प्रमुख रचना 'प्रिय-प्रवास' है। यह एक युग प्रवर्त्तक महाकाव्य है। शैली की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है ही, भाव की दृष्टि से भी यह अपना एक विशेष स्थान रखता है। उनके कृष्ण माखन चुराने वाले नटखट श्याम नहीं हैं, वे हैं ब्रज का विपत्तियों से उद्धार करने वाले लोक नायक। उनकी राधा कृष्ण के वियोग में आँसू बहाने वाली नायिका न होकर जन-हित में संलग्न एक आदर्श नारी हैं।

'वैदेही वनवास' में सीता जी को आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया गया है। 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' मुहावरेपूर्ण सरल भाषा

के ग्रन्थ हैं। उनमें 'हरिऔध' जी की उदार और चमत्कार उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

शैली-सौन्दर्य

'प्रिव-प्रवास' संस्कृत शैली का उदाहरण है, 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' सरल भाषा में हैं। दोनों प्रकार की भाषा के प्रयोग में उन्हें सफलता मिली है और दोनों प्रकार की शैलियों पर उन्हें पूरा अधिकार है। 'प्रिय-प्रवास' के कुछ स्थलों की भाषा तो संस्कृत शब्दों से इतनी भरी हुई है कि विभक्तियों के अतिरिक्त उसे हिन्दी नाम देने का और कोई कारण नहीं है, उदाहरणार्थ :—

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका, राकेन्दु विम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका, क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥

रस

'हरिऔध' जी ने वात्सल्य और शृंगार रसों का सफल प्रयोग किया है। इन रसों में कहीं भी अश्लीलता नहीं है। उनमें भावाभिव्यंजन और चरित्र-चित्रण विशेष महत्वपूर्ण हैं।

छन्द

'हरिऔध' जी आधुनिक हिन्दी में वर्ण-वृत्त लाने वाले प्रथम कवि थे। द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, शार्दूल-विक्रीड़ित, मालिनी आदि छन्दों का प्रयोग उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' तथा 'वैदेही वनवास' में किया है।

अलंकार

'हरिऔध' जी के अलंकार अधिकांशतः सादृश्यमूलक हैं। अलंकार द्वारा विशेष चमत्कार लाने का प्रयत्न 'रस कलश' के अतिरिक्त और कहीं नहीं है।

विशेषताएँ

'हरिऔध' जी हिन्दी में अतुकान्त कविता लिखने वाले प्रथम कवि हैं। उन्हें 'प्रिय-प्रवास' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला था। उनकी ७०वीं वर्ष-गाँठ पर उन्हें आगरा नागरी प्रचारिणी सभा ने अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया था।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में श्रीकृष्ण का बाल-चित्रण है। इसमें चित्रात्मकता और रस-निरूपण के प्रसंग देखे जा सकते हैं। वर्णवृत्त-शैली में भी कितना प्रवाह है, यह प्रस्तुत अवतरण से देखा जा सकता है।

ग्रन्थ

बोलचाल, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, प्रिय-प्रवास, वैदेही वनवास (काव्य-ग्रन्थ)।

गद्य—ठेठ हिन्दी का ठाठ, अधखिला फूला।

बाल-कृष्ण

जब रहे व्रज चंद छः मास के,
दसन दो मुख में जब थे लसे।
तब पड़े कुसुमोपम तल्प पै,
वह उछाल रहे पद-कंज थे ।।१।।

महरि पास खड़ी इस तल्प के,
छवि अनुत्तम थीं अवलोकतीं।
अति मनोहर कोमल कंठ से,
कलित गान कभी करती रहीं ।।२।।

जब कभी जननी मुख चूमतीं,
कल कथा कहतीं चुमकारतीं।
उमंगना, हँसना उस काल का,
अति अलौकिक था व्रज चंद का ।।३।।

कुछ खुले मुख की सुषमामयी,
यह हँसी जननी मन-रंजनी।
लसित यों मुख-मंडल पै रही,
विकल पंकज ऊपर ज्यों कला ॥४॥

दसन दो हँसते मुख मंजु में,
दरसते अति ही कमनीय थे।
नवल कोमल पंकज-कोष में,
विलसते बिवि मौक्तिक हों यथा ॥५॥

जननि के अति वत्सलता पगे,
ललकते बिवि लोचन के लिए।
दसन थे रस के युग बीज से,
सरस धार सुधा सम थी हँसी ॥६॥

जब सुव्यंजक भाव विचित्र के,
निकलते मुख-अस्फुट शब्द थे।
तब कई अधरांबुधि से कढ़े,
जननि को मिलते वर रत्न थे ॥७॥

गगन सांध्य समान सु-ओष्ठ थे,
दसन थे युग तारक से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी,
जननि मानस की अभिनंदिनी ॥८॥

विमल चंद विनिंदक माधुरी,
विकच वारिज की कमनीयता।
वदन में जननी बलवीर के,
निरखती वह विश्व-विभूति थी ॥९॥

जननि मानस पुण्य-पयोधि में,
लहर एक उठी सुख-मूल थी।
वह सु-वासर था ब्रज के लिये,
जब चले घुटनों ब्रजचंद थे ॥१०॥

उमँगते जननी मुख देखते,
किलकते हँसते जब लाड़िले।
अजिर में घुटनों चलते रहे,
वितरते तब मोद अपार थे ॥११॥

विमल व्योम-विराजित चन्द्रमा,
सदन शोभित दीपक की शिखा।
जननि-अंक-विभूषण के लिए,
परम कौतुक की प्रिय वस्तु थी ॥१२॥

नयन-रंजन अंजन मंजु सी,
जब कभी रज श्यामल गात की।
जननि थीं कर से निज पोंछती,
उलहती तब बेलि-विनोद थी ॥१३॥

जब कभी कुछ लेकर पाणि में,
वदन में ब्रजनंदन डालते।
चकित लोचन से अथवा कभी,
निरखते वह वस्तु विशेष थे ॥१४॥

प्रकृति के नख थे तब खोलते,
विविध ज्ञान मनोहर ग्रंथि को।
दमकती तब थी द्विगुणी शिखा,
महरि-मानस मंजु प्रदीप की ॥१५॥

कुछ दिनों उपरांत व्रजेश के,
चरण भू पर भी पड़ने लगे।
नवल नूपुर औ कटि-किंकिणी,
ध्वनित हो उठने गृह में लगी ॥१६॥

ठुमकते गिरते पड़ते हुए,
जननि के कर की उंगली गहे।
सदन में चलते जब श्याम थे,
उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था ॥१७॥

क्वणित होकर के कटि-किंकिणी,
विदित थी करती इस बात को।
चकितकारक पंडित - मंडली,
परम अद्‌भुत बालक है यही ॥१८॥

कलित नूपुर की कल-वादिता,
जगत को यह थी जतला रही।
कब भला न अजीव सजीवता,
परस के पद-पंकज पा सके ॥१९॥

निकल के निज सुन्दर सद्म से,
जब लगे व्रज में हरि घूमने।
जब लगी करने अनुरंजिता,
डगर को पद-पंकज-लालिमा ॥२०॥

तब हुई मुदिता शिशु-मंडली,
सकल वाम बनी बहु हर्षिता।
विविध कौतुक और विनोद की,
विपुलता व्रज-मंडल में हुई ॥२१॥

पहुँचते जव थे गृह में किसी,
व्रज-लला हँसते मृदु बोलते।
ग्रहण थीं करती अति चाव से,
तव उन्हें सव सद्म निवासिनी ॥२२॥

मधुर भाषण से गृह-बालिका,
अति समादर थीं करती सदा।
सरस माखन औ दधि-दान से,
मुदित थीं करती गृह स्वामिनी ॥२३॥

कमल लोचन भी कल उक्ति से,
सकल को करते अति मुग्ध थे।
कलित क्रीडन नूपुर-नाद से,
भवन भी वनता अति भव्य था ॥२४॥

स-वलराम, स-बालक मंडली,
विहरते वहु मंदिर में रहे।
विचरते हरि थे इकले कभी,
विविध वस्त्र-विभूषण से सजे ॥२५॥

१३. जयशंकर 'प्रसाद'

जन्म-सम्वत् : १९४६ वि० मृत्यु-सम्वत् : १९९४ वि०

काव्य-प्रेरणा

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में हिन्दी कविता इतिवृत्तात्मक थी। इतिहास, पौराणिक इतिवृत्त और समाज-सुधार ही उनका उद्देश्य था। काव्य की आत्मा रस और उसके प्रमुख तत्व कल्पना का अभाव-सा हो गया था। उस समय हिन्दी साहित्य की लगभग वैसी ही दशा थी जैसी डा० जान्सन के समय में अंग्रेजी साहित्य की। ऐसी नीरस रचनाओं के विरुद्ध विद्रोह होना स्वाभाविक था किन्तु इसके लिए आवश्यकता थी किसी महान् और अन्तर्दृष्टि रखने वाले कवि की। 'प्रसाद' जी ने इस अभाव की पूर्ति की और साहित्य में प्रेम, सौन्दर्य और रस की नये ढंग से प्राण-प्रतिष्ठा की। मानव-जीवन की नींव पर उन्होंने अध्यात्म के प्रासाद का निर्माण किया। जीवन के विष का पान करके उन्होंने अमृत-मयी वाणी का दान किया।

जीवन-वृत्त

'प्रसाद' जी का जन्म भारतेन्दु के अवसान के पाँच वर्ष के बाद काशी में हुआ। वे भी भारतेन्दु की ही भाँति एक प्रतिष्ठित और सम्पन्न वैश्य परिवार के थे। 'प्रसाद' जी के पूर्वज सुंघनी साहू काशी नरेश के महाजन थे।

'प्रसाद' जी के पिता जी अल्पवय में ही उनको इस संसार में छोड़कर चले गये थे। उन्होंने आठवीं कक्षा तक स्कूल में शिक्षा पाई किन्तु घर पर उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, बंगला की शिक्षा

प्राप्त करके वे साहित्य क्षेत्र में उतरे। सत्रह वर्ष की अवस्था में उनकी प्रथम कविता 'भारतेन्दु' में प्रकाशित हुई, किन्तु वे इससे पहले ही कविता लिखने लगे थे।

काशी के कवियों के सत्संग में बचपन से ही रहने के कारण हिन्दी साहित्य की गतिविधि से 'प्रसाद' जी परिचित हो चुके थे। उन्होंने 'इन्दु' मासिक के प्रकाशन की व्यवस्था की जिसमें 'प्रसाद' जी की रचनाएँ नियमित रूप से निकलती रहीं। इसी में उनकी आरम्भिक कहानियाँ भी निकलीं।

'प्रसाद' जी स्वभाव से बड़े दयालु थे। उनकी असावधानी के कारण उनकी पैतृक सम्पत्ति धीरे-धीरे समाप्त हो गयी। अनेक चिन्ताओं के परिणामस्वरूप अल्पवय में ही 'प्रसाद' जी का देहावसान हो गया। उनकी अकाल मृत्यु से हिन्दी साहित्य को महान् क्षति हुई।

काव्य-परिचय

'प्रसाद' जी ने युग-जीवन को हमारे सामने रखा है। वे मानव-जीवन को एक नवीन दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि उदार और विस्तृत है। एक ओर 'कामायनी' का उदात्त समन्वयवाद है, दूसरी ओर व्यक्तिगत पीड़ा का अध्यात्म की सीमा तक पहुँचा हुआ रूप। जन-कल्याण उनका उद्देश्य है। 'कामायनी' में सदाश्रयत्व की भावना है; उसमें आदिम सभ्यता से लेकर नवीन औद्योगिक सभ्यता तक का चित्र 'प्रसाद' जी ने अपने काव्य में खींचा है। विशाल जीवन उनकी लेखनी द्वारा चित्रित होने का सौभाग्य प्राप्त कर सका है।

प्रकृति-चित्रण

'प्रसाद' जी की प्रमुख विशेषता है उनका प्रकृति-चित्रण। 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' से लेकर 'कामायनी' तक में प्रकृति-चित्रण का एक विशेष स्थान है। प्रकृति का उनके काव्य में विशेष महत्व है। वह किसी पात्र के सुख-दुख की सहचरी ही नहीं है, उसकी स्वयं भी एक सत्ता है। उसका अपना सौन्दर्य है, अपने भाव हैं। प्रकृति एक जीवित पात्र की ही

भाँति उनके काव्य में समाविष्ट हुई है। प्रकृति के प्रति कवि के मन में जिज्ञासा है, प्रेम है। प्रारम्भिक रचनाओं में उनका मस्तिष्क-पक्ष या जिज्ञासा-पक्ष ही प्रधान है। आगे चलकर उनका हृदय-पक्ष अनेकानेक परिस्थितियों में प्रेम और करुणा के चित्र उपस्थित कर सका है।

छायावाद के प्रवर्त्तक

'प्रसाद' जी ने जिस व्यक्तिगत दृष्टिकोण का परिचय दिया है, उसे 'छायावाद' का नाम दिया गया है। 'छायावाद' जीवन के लाक्षणिक चित्रण का नाम है। जब हम काव्य में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म पर अधिक बल देते हुए वस्तु-स्थिति से भावना-जगत् में प्रवेश करते हैं तो 'छायावाद' की सृष्टि होती है। 'प्रसाद' जी ने सदैव भावना-जगत् के मर्म-स्पर्शी चित्र खींचे हैं। करुणा और प्रेम को दर्शन की दिव्य अनुभूति से आलोकित करके वे उसे नये प्रकार की काव्य-दृष्टि से देखते हैं और हम भावना के असीम संसार में पहुँच जाते हैं। ऐसा करते समय कविता में आध्यात्मिक पक्ष भी दृष्टिगत होने लगता है। इस प्रकार 'प्रसाद' जी भावना-जगत् के सम्राट समझे जा सकते हैं।

शैली-सौन्दर्य

अभिव्यक्ति अथवा कला पक्ष की दृष्टि से 'प्रसाद' जी का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा है। उनके काव्य में गीतात्मकता है। गीतात्मक अंशों की पदावली कोमल और ललित हैं, कहीं-कहीं कटु शब्द भी मधुर बन गए हैं। उनकी रचनाओं को पढ़कर वस्तु-स्थिति का चित्र सामने आ जाता है।

अलंकार योजना

'प्रसाद' जी ने अनेक नवीन उपमानों का प्रयोग किया है। अमूर्त उपमानों का इन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक प्रयोग किया है। एक प्रयोग देखिये :—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार, एक लम्बी काया उन्मुक्त।
मधुप-वन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल, सुशोभित हो सौरभ संयुक्त॥

तथा

सुना यह मनु ने मधु गुंजार, मधुकरी का सा जब सानन्द।
किए मुख नीचा कमल समान, प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द ।।

भाषा

'प्रसाद' जी की भाषा ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनों गुणों से युक्त है। वैसे माधुर्य और प्रसादत्व ही इनकी भाषा के प्रमुख गुण हैं। शब्द-चयन में इन्होंने इतनी सतर्कता से काम लिया है कि कहीं कोई कमी नहीं रह गयी। संस्कृत के तत्सम शब्द आये हैं, पर वे कहीं भी काव्य के अर्थ की स्पष्टता में बाधा नहीं डालते।

रस

वीर, करुण, शृङ्गार (दोनों पक्ष) आदि रस ही उनकी रचना में प्रधान रूप से हैं। वात्सल्य रस सम्बन्धी जो अंश हैं वे मार्मिक हैं।

विशेषता

'प्रसाद' जी की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने कविता में युगान्तर उपस्थित कर दिया। अभी तक जो केवल स्थूल जगत का चित्रण काव्य की परम्परागत शैली में होता था उसके स्थान पर 'प्रसाद' ने सूक्ष्म जगत् के चित्रण में प्रतीकों और रूपकों का एक नया संसार ही निर्मित कर दिया।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में 'प्रसाद' जी के कुछ सुन्दर गीत हैं। एक वर्णनात्मक अतुकान्त कविता 'शिल्प सौन्दर्य' में साँस्कृतिक दृष्टिकोण है तथा 'खोलो द्वार' में उनका छायावादी दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है।

ग्रन्थ

'प्रसाद' जी ने काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानियों का अमूल्य साहित्य दिया है। पर प्रमुख रूप से वे कवि और नाटककार माने गये हैं। काव्य ग्रन्थों में लहर, झरना, आँसू और कामायनी प्रमुख हैं तथा नाटक-ग्रन्थों में अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य, चन्द्रगुप्त और ध्रुव-स्वामिनी मुख्य हैं।

गीत

(१)

बीती विभावरी जाग री !
अम्बर - पनघट में डुबो रही,
तारा - घट ऊषा - नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लायी,
मधु मुकुल नवल रस-गागरी,
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोयी है, आली !
आँखों में भरे विहाग री।

(२)

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे ?
जब सावन - घन - सघन बरसते
इन आँखों की छाया भर थे !
सुर-धनु-रंजित नव जलधर से
भरे, क्षितिज-व्यापी अम्बर से
मिले घूमते जब सरिता के
हरित कूल युग मधुर अधर थे।
प्राण पपीहा के स्वर वाली
बरस रही थी जब हरियाली,
रस-जल-कन मालती-मुकुल से
जो मदमाते गन्ध-विधुर थे।
चित्र खींचती थी जब चपला,
नील मेघ पट पर वह विरला,

मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें,
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

शिल्प-सौन्दर्य

कोलाहल क्यों मचा हुआ है ? घोर यह
महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा,
अथवा तोपों के मिस से हुंकार यह
करता हुआ पयोधि प्रलय का आ रहा।
नहीं, महा संघर्षण से होकर व्यथित
हरि-चन्दन दावानल फैलाने लगा।
आर्य-मन्दिरों के सब ध्वंस बचे हुए,
धूल उड़ाने लगे, पड़ी जो आँख में
उनके—जिनसे वे थे खुदवाये गये—
जिससे देख न सकते वे कर्त्तव्य-पथ।

दुर्दिन जल-धारा न सम्हाल सकी, अहो !
बालू की दीवाल मुगल साम्राज्य की।
आर्य शिल्प के साथ गिरा वह भी जिसे
अपने कर से खोदा आलमगीर ने,
मुगल महीपति के अत्याचारी, अवल
कर कँपने से लगे, अहो, यह क्या हुआ ?
मुगल अदृष्टाकाश-मध्य, अति तेज से
धूमकेतु से सूर्यमल्ल प्रमुदित हुए,
सिंह-द्वार है खुला दीन के मुख सदृश
प्रतिहिंसा-पूरित वीरों की मंडली।
व्याप्त हो रही है दिल्ली के दुर्ग में,
मुगल महीपों ने अवसादित बहुत

टूट चुके हैं आम खास के अंश भी,-
किन्तु न कोई सैनिक भी सम्मुख हुआ।

रोषानल से ज्वलित नेत्र भी लाल हैं,
मुख-मंडल भीषण प्रतिहिंसा-पूर्ण है।

सूर्य्यमल्ल, मध्याह्न सूर्य सम प्रचंड हो,
मोती मस्जिद के प्रांगण में हैं खड़े,
भीम गदा है कर में, मन में वेग है,
उठा क्रुद्ध हो, सबल हाथ लेकर गदा,
छज्जे पर जा पड़ा, काँप कर रह गयी,
मर्मर की दीवाल, अलग टुकड़ा हुआ,
किन्तु न फिर वह चला चंड कर नाश को,
क्यों जी यह कैसा निष्क्रिय प्रतिरोध है ?

सूर्य्यमल्ल रुक गये, हृदय भी रुक गया,
भीषणता रुक कर करुणा-सी हो गयी।

कहा—नष्ट कर देंगे यदि विद्वेष से—
इसको, तो फिर एक वस्तु संसार की,
सुन्दरता से पूर्ण सदा के लिये ही
हो जायेगी लुप्त, बड़ा आश्चर्य है !
आज काम वह किया शिल्प-सौन्दर्य ने
जिसे न करती कभी सहस्रों वक्तृता।

अति सर्वत्र अहो वर्जित है, सत्य ही,
कहीं वीरता बनती इसमें क्रूरता।

धर्म-जन्य प्रतिहिंसा ने क्या क्या नहीं,
किया, विशेष अनिष्ट शिल्प-साहित्य का !

लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के
साधन, सुन्दर ग्रन्थ जलाये वे गये,
तोड़े गये अतीत-कथा-मकरन्द को,
रहे छिपाये शिल्प-कुसुम जो शिला हो,
हे भारत के ध्वंस-शिल्प ! स्मृति से भरे,
कितने वर्षा शीतातप तुम सह चुके !
तुमको देख अरुण इस वेश में,
कौन कहेगा, कब किसने निर्मित किया ?
शिल्प पूर्ण पत्थर कब मिट्टी हो गये ?
किस मिट्टी की ईंटें हैं बिखरी हुई ?

खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई, कमली के भीगे हैं सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार,
भीग रहा रजनी का वह सुन्दर कोमल कवरी-भार,
अरुण किरण सम कर से छूलो, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।
धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ है, दुखः अपार,
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार,
डरो न इतना धूल-धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार,
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार।
मेरे धूलि लगे पैरों से इतना करो न घृणा-प्रकाश,
मेरे ऐसे धूल कणों से कब, तेरे पद को अवकाश ?
पैरों ही से लिपटा-लिपटा कर लूंगा निज पद निर्धार,
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार।
सु-प्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
मिट जावे, जो तुमको देखूँ, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।

१४. सुमित्रानन्दन पंत

जन्म-सम्वत् : १९५८ वि०

काव्य-प्रेरणा

प्रकृति की सुरम्य क्रीड़ास्थली कूर्माचल प्रदेश में जन्म लेने वाले पन्त स्वयं ही एक सुगन्धित पुष्प का व्यक्तित्व रखते हैं। वे प्रकृति के उपासक भी हैं और देश-काल के प्रति जागरूक भी। प्रकृति का प्रेम ही इनकी आरम्भिक कविताओं का मूल है, किन्तु प्रकृति के साथ मानव ने भी इन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया है और पन्त मानव-जीवन के कवि हो गये हैं। ये जीवन में अध्यात्म की आवश्यकता अनुभव करते हैं और उसके बिना मानव-कल्याण असम्भव मानते हैं। इनकी नवीनतम कृतियाँ सामाजिक अध्यात्मवाद से अनुप्राणित हैं। गाँधी और अरविन्द दोनों ही महापुरुषों के जीवन दर्शन ने इन्हें प्रभावित किया है। इस प्रकार पन्त की प्रेरणा जीवन के सत्यं और सुन्दरं से ही नहीं, शिवं से भी परिपूर्ण है।

जीवन-वृत्त

पन्त जी का जन्म कौसानी (जिला अल्मोड़ा) में सम्वत् १९५८ में हुआ। ये अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के विचार से प्रयाग के म्योर सेन्ट्रल कालेज में आये किन्तु इनका अध्ययन जारी न रह सका। फिर भी स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया जिसकी छाप इनकी रचनाओं पर है। दर्शन और साहित्य इनके अध्ययन के प्रिय विषय रहे हैं। 'छायावाद' के तीन श्रेष्ठ कवियों में इनका स्थान है। अपने जीवन की सन्धियों में ये अनेक स्थानों पर रहे किन्तु प्रयाग ने इन्हें विशेष आकृष्ट किया। बचपन का प्रकृति-प्रेम आज तक इनकी कविता में विद्यमान

हैं। आजकल ये आल इन्डिया रेडियो, इलाहाबाद के हिन्दी-परामर्श-दाता हैं।

काव्य-परिचय

प्रकृति-निरीक्षण से ही पन्त जी को काव्य की प्रेरणा मिली। कूर्माचल प्रदेश की सौन्दर्य-राशि ने इनकी सारी भावनाओं को रंग दिया। 'वीणा' से 'ग्राम्या' तक की रचनाओं में प्रकृति का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है। पन्त जी के भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गम्भीर आश्चर्य की भावना भी इसी कारण आ गई है। इनकी कल्पना स्वस्थ सौन्दर्य से अनुप्राणित है। प्रकृति को इन्होंने सदैव ही जीवित सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है, उससे तादात्म्य अनुभव किया है और यदा कदा उसका उग्र रूप भी चित्रित किया है।

सत्यं शिवं सुन्दरम् के प्रतीक

"वीणा" और "पल्लव" उनके प्राकृतिक साहचर्य की कृतियाँ हैं। भारतीय दर्शन से प्रभावित होकर "गुंजन" में वे सुन्दरम् से शिवं की ओर अधिक झुक गये हैं। "ज्योत्स्ना" नाटक में कल्पना अधिक सूक्ष्म तथा भावात्मक हो गई है। "युगान्त" और "युगवाणी" जैसी काव्य-रचनाओं में संघर्ष तथा सैद्धान्तिकता अधिक है, किन्तु बाद की "स्वर्ण-धूलि" जैसी रचनाओं में आत्मोत्कर्ष और सामाजिक अभ्युदय की इच्छा बलवती हुई। इस प्रकार पन्त जी धीरे-धीरे भावनात्मकता से बौद्धिकता की ओर बढ़ते गये। "ग्रन्थि" इनके प्रेम तन्तुओं की ग्रन्थि है।

"युगवाणी" पन्त जी के परिवर्तन के बाद की रचना है। इसमें मार्क्स और गाँधी दोनों के प्रति कवि ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। "युगवाणी" में इनकी सामाजिक चेतना परिपक्व हो गयी है। ये वर्गहीन सामाजिकता की स्तुति करते हैं और उसमें ही (इनके अनुसार) मानव-कल्याण निहित है। "युगवाणी" में कला की अपेक्षा जीवन की अधिकता है, भाव और रसात्मकता का स्थान यथार्थ ने ले लिया है।

"उत्तरा", "स्वर्ण किरण", "स्वर्णधूलि" इनकी नवीनतम रचनाएँ हैं, जिनमें वे पुनः अध्यात्मवाद पर आ गये हैं। उनके अनुसार अध्यात्मवाद और मार्क्सवाद में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों का उद्देश्य एक ही है। एक सूक्ष्म को अधिक महत्व देता है और दूसरा स्थूल को।

छायावादी कवियों में पन्त जी ही ऐसे हैं जिन पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत अंश तक पड़ा है। वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शैली और टेनिसन आदि अंग्रेजी कवि तथा कवीन्द्र रवीन्द्र इन सबके प्रभाव को उन्होंने स्वीकार किया है। अंग्रेजी कविताओं को आत्मसात् करके इन्होंने अपने काव्य पक्ष को अधिक उदात्त बना लिया है, जिसमें उनकी सुकुमार कल्पना चित्रकार की भाँति नये-नये रंग भरती है।

शैली सौन्दर्य

पन्त जी की भाषा में कोमलता है। उसमें कलात्मकता का आग्रह है और भावों का भव्य सौन्दर्य तथा ध्वनि की परख उन्हें शब्दों में झंकार उत्पन्न करने में सदा सहायता देती रहती है। खड़ी बोली को भी ये ब्रजभाषा की-सी मधुरता प्रदान कर सके हैं। विचार-पक्ष को ये कला-पक्ष से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं, इसी कारण आगे चलकर ये शब्द-कौशल की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके।

पन्त जी चित्र प्रस्तुत करने में अत्यन्त कुशल हैं। "ग्राम्या" में शब्द-चित्रों की अधिकता है। चमारों का नाच, बूढ़ा, ग्राम-नारी, गाँव के बच्चे आदि का चित्र अत्यन्त कुशलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

गीति-तत्व पन्त जी की रचनाओं में विद्यमान है।

पन्त जी की विशेषता

पन्त जी छायावाद और प्रगतिवाद के समान रूप से सफल कवि हैं। ये एक छायावादी कवि के रूप में हिन्दी साहित्य के पाठकों के सामने आये और सच्चे अर्थों में प्रगतिशील लेखक बने। समाज के बन्धनों से

जकड़े हुए मनुष्य, नारी और कलाकार के प्रति वे मौन न रह सके। यही पन्त जी की प्रमुख विशेषता है। वे ऐसे कलाकार हैं जिनमें कला और मानव-जीवन की गहरी अनुभूति है।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में उनकी तीन कवितायें हैं। "छाया", "मौन निमन्त्रण" और "बापू के प्रति"। इनमें कवि ने प्रकृति में जीवन की गहरी दृष्टि रखते हुये सत्य का उद्घाटन किया है। "छाया" और "मौन निमन्त्रण" "छायावाद" की श्रेष्ठ अभिव्यक्तियाँ हैं। प्राचीन उपमानों के स्थान पर कवि ने नवीन उपमानों की कल्पना की है। नवीन उपमाएँ उनकी शैली में रत्नों की भाँति जड़ी हैं।

ग्रन्थ—पन्त जी ने कविता, नाटक तथा कहानियों की रचना की है। कविता में उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं, पल्लव, वीणा, ग्रन्थि, गुंजन, युगवाणी, ग्राम्या, उत्तरा, स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि आदि। "ज्योत्सना" उनका नाटक है। "पाँच कहानियाँ" उनका कहानी-संग्रह है।

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्सना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,

न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन ?

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,

दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार,
न जाने, तपक तड़ित् में कौन,
मुझे इंगित करता तव मौन ?

देख वसुधा का यौवन-भार
गूंज उठता है जब मधु मास,
विधुर-उर के से मृदु उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन ?

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात,
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात
उठा तब लहरों से कर, कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन ?

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल कंठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर,
न जाने, अलस पलक-दल कौन,
खोल देता तब मेरे मौन ?

तुमुल-तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर-कुल की झंकार
कँपा देती तन्द्रा के तार,

न जाने, खद्योतों से कौन,
मुझे पथ दिखलाता तव मौन ?
कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुंजार,
न जाने ढुलक ओस में कौन,
खींच लेता मेरे दृग मौन ?
बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण-अवसान,
शून्य शैय्या में श्रमित अपार,
जुड़ाता जब मैं आकुल प्राण,
न जाने, मुझे स्वप्न में कौन,
फिराता छाया-जग में मौन ?
न जाने कौन अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूंक देते छिद्रों में गान,
अहे, सुख-दुख के सहचर मौन;
नहीं कह सकता तुम हो कौन ?

(पल्लव से)

छाया

कौन-कौन तुम परिहत वसना
म्लानमना, भू-पतिता सी ?
धूलि - धूसरित, मुक्त - कुंतला,
किसके चरणों की दासी ?

अहा ! अभागिन हो तुम मुझसी
सजनि ! ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो,
मैं उनके पद की छाया !
विजन निशा में सहज गले तुम
लगती हो फिर तरुवर के,
आनन्दित होती हो सखि ! नित
उसकी पद सेवा कर के।
और हाय ! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि दिन वन-वन
नहीं सुनाई देती फिर भी
वह वंशी ध्वनि मन मोहन।
सजनि ! सदा श्रम हरती हो तुम
पथिकों का, शीतल कर के,
मुझ पथिकिनि को भी आश्रय दो,
मनस्ताप मेरा हर के।

बापू के प्रति

तुम माँस-हीन, तुम रक्त-हीन
हे अस्थि-शेष ! तुम अस्थ-हीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण ! हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव-शून्य लीन,
आधार, अमर होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन !

तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त, अस्थि
निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
तुम धन्य ! तुम्हारा निःस्व त्याग
है विश्वभोग का वर साधन।
इस भस्म-काम तन की रज से
जग पूर्ण-काम नव जग-जीवन,
बीनेगा सत्य - अहिंसा के
ताने बाने से मानवपन !

सदियों का दैन्य, तमिस्र - तोम,
धुन तुमने कात प्रकाश - सूत,
हे नग्न ! नग्न पशुता ढँक दी
बुन नव संस्कृति मनुजत्व पूत,
जग पीड़ित छूतों से प्रभूत,
छू अमृत स्पर्श से, हे अछूत !
तुमने पावन कर, मुक्त किये
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत !

सुख भोग खोजने आते सब,
आये तुम करने सत्य - खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज !
जड़ता, हिंसा स्पर्धा में भर
चेतना, अहिंसा नम्र ओज,
पशुता का पंकज बना दिया—
तुमने मानवता का सरोज।

पशु-बल की कारा से जग को
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति,

विद्वेष, घृणा से लड़ने को
दिखलायी दुर्जय प्रेम - युक्ति,
वर श्रम-प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचार - परिणीत उक्ति
विश्वानुरक्त, हे अनासक्त !
सर्वस्व-त्याग को बना भुक्ति ।

सहयोग सिखा शासित जन को
शासन का दुर्वह हरा भार,
होकर निरस्त्र, सत्याग्रह से
रोका मिथ्या का बल-प्रहार,
बहु भेद, विग्रहों में खोयी
ली जीर्ण जाति क्षय से उबार
तुमने प्रकाश को कह प्रकाश,
औ' अन्धकार को अन्धकार ।

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग-युग का विषय-जनित विषाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद,
रंग रंग खद्दर के सूत्रों में,
नव जीवन आशा, स्पृहाह्लाद
मानवी कला के सूत्रधार !
हर लिया यन्त्र-कौशल-प्रवाद ।

जड़वाद जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान्,
यन्त्राभिभूत युग में करने
मानव-जीवन का परित्राण,

वह छाया - बिम्बों में खोया
पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान,
फिर रक्त मांस - प्रतिमाओं में
फूंकने सत्य से अमर प्राण ।

संसार छोड़ कर ग्रहण किया
नर - जीवन का परमार्थ - सार,
अपवाद बने, मानवता के
ध्रुव नियमों का करने प्रचार,
हो सार्वजनिकता जयी, अजित !
तुमने निजत्व निज दिया हार,
लौकिकता को जीवित रखने
तुम हुए अलौकिक, हे उदार !

मंगल, शशि - लोलुप मानव थे
विस्मित, ब्रह्मांड-परिधि विलोक,
तुम केन्द्र खोजने आये तब
सब में व्यापक, गत राग - शोक,
पशु - पक्षी पुष्पों से प्रेरित
उद्दाम काम जन - क्रान्ति रोक,
जीवन - इच्छा को आत्मा के
वश में रख, शासित किये लोक ।

था व्याप्त दिशावधि ध्वान्त भ्रान्त,
इतिहास विश्व - उद्भव प्रमाण
वह हेतु, बुद्धि जड़ वस्तुवाद,
मानव - संस्कृति के बने प्राण,
थे राष्ट्र, अर्थ, जन साम्यवाद
छल सभ्य जगत के शिष्ट मान

भू पर रहते थे मनुज नहीं,
बहु रूढ़ि - रीति प्रेतों समान,

तुम विश्व मंच पर हुए उदित,
बन जग - जीवन के सूत्रधार,
पट पर पट उठा दिये मन से
कर नर - चरित्र का नवोद्धार,
आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि पल के दृश्यों को सँवार,
गा गा एकोऽहं बहुस्याम
हर लिये भेद, भव - भीति, भार ।

एकता इष्ट निर्देश किया
जग खोज रहा था जब समता,
अन्तर - शासन चिर राम - राज्य,
औ, बाह्य आत्महन - अक्षमता,
हों कर्म - निरत जन, राग - विरत
रति, विरति, व्यतिक्रम, भ्रम, ममता,
प्रतिक्रिया, क्रिया, साधन, अवयव
हैं सत्य सिद्ध, गति, यति क्षमता ।

ये राज्य, प्रजा, जन साम्य, तन्त्र
शासन - चालन के कृतक यान,
मानस, मानुषी, विकास शास्त्र,
हैं तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान,
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन - उपकरण, चयन - प्रधान
मथ सूक्ष्म - स्थूल जग, बोले तुम,
मानव मानवता का विधान ।

साम्राज्यवाद था कंस, बन्दिनी
मानवता, पशु - बलाक्रान्त
शृङ्खला - दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन - पद शक्ति भ्रान्त,
कारागृह में दे दिव्य जन्म
मानव - आत्मा को मुक्त, कान्त,
जल - शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत, पद-प्रणत, शान्त ।

कारा थी संस्कृति विगत, भित्ति
बहु धर्म, जातिगत रूप, नाम,
बन्दी जग - जीवन, भू विभक्त,
विज्ञान - मूढ़ जन प्रकृति - काम,
आये तुम मुक्त पुरुष, कहने—
मिथ्या जड़ - बन्धन, सत्य राम,
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः
जय ज्ञान-ज्योति, तुमको प्रणाम ।

१५. महादेवी वर्मा

जन्म-सम्वत् : १९६४ वि०

काव्य-प्रेरणा

'प्रसाद' जी द्वारा प्रर्वातत 'छायावाद' ने जीवन के सूक्ष्म रूप को सामने रखा, उनके काव्य ने नश्वर तत्व में अविनश्वर तत्व के महत्व का प्रकाशन किया। महादेवी जी नश्वर मानव के हृदय में अविनश्वर-वेदना की साकार मूर्ति हैं। गीति-काव्य में ही उनकी अभिव्यक्ति निहित है और करुणा ही इनके भाव-पथ का सम्बल है। "करुणा" की भावुकता एवं आस्तिकता तथा "अद्‌भुत" की सम्प्रदाय-हीन दार्शनिकता, इन सभी ने मिल कर इनके व्यक्तित्व का निर्माण किया है। शैशव में सुने हुए मीरां तथा तुलसी के भावमय पदों की संगीतात्मकता से प्रेरित होकर उन्होंने प्रथम ब्रजभाषा में रचना आरम्भ की और आगे चल कर पत्र-पत्रिकाओं में उनकी भाव-राशि ने खड़ी बोली का रूप ग्रहण किया। जीवन के कटु अनुभवों ने उन्हें वेदना की श्रेष्ठ कवयित्री बना दिया।

जीवन-वृत्त

महादेवी वर्मा का जन्म उत्तर-प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में हुआ। उनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा, एम० ए०, एल-एल० बी०, भागलपुर के एक कालेज में हेडमास्टर थे, उनकी माता श्रीमती हेमरानी देवी एक विदुषी और भक्त थीं। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। घर में चित्रकला और संगीत की शिक्षा प्राप्त की। छठी कक्षा तक पढ़ने के बाद नौ वर्ष के अल्पवय में ही आपका विवाह नवाबगंज (बरेली) के डा० स्वरूपनारायण वर्मा के साथ हो गया और यहीं पर आपका शिक्षा-क्रम टूट गया।

कुछ समय बाद इनकी शिक्षा फिर प्रारम्भ हुई और सम्वत् १९७७ में इन्होंने प्रयाग से मिडिल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। समस्त प्रदेश में आपका स्थान प्रथम रहा। सम्वत् १९८१ में आपने इन्ट्रेन्स (हाई स्कूल) परीक्षा उत्तीर्ण की और उसमें भी आप सर्व-प्रथम रहीं। १९८३ वि० में इण्टरमीडिएट और सम्वत् १९८५ में आपने बी० ए० की परीक्षा (दर्शन विषय के साथ) प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। तदनन्तर संस्कृत से एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

आत्मीयों का अभाव आपको सदैव पीड़ा देता रहा है। आपने लिखा है कि "समता के धरातल पर सुख-दुख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जाये तो मेरे पास मित्र का अभाव है।" जीवन की वेदना उनके काव्य की आध्यात्मिक वेदना बन गई। उनकी आँखें उस वेदना की समाप्ति नहीं चाहती हैं—वे अतृप्त ही रहना चाहती हैं—प्यासी आँखों से उन्हें मोह हो गया है।

वे नारी-स्वाधीनता के लिये सदैव ही संघर्ष करती रही हैं। नारी को अधिकार तभी प्राप्त हो सकते हैं जब उसे ज्ञान हो, वह शिक्षित हो। स्त्री-शिक्षा के लिये उन्होंने प्रयाग महिला विद्यापीठ की सफलता के लिये आजीवन प्रयत्न किया। उक्त संस्था को अखिल भारतीय संस्था बनाने का श्रेय श्रीमती वर्मा को ही है। वे आजकल महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल हैं तथा उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद् की सदस्या भी रही हैं। कुछ दिनों तक आपने 'चाँद' मासिक-पत्र का सम्पादन भी किया। श्रीमती महादेवी जी स्वभाव से ही सहृदय और दयालु हैं।

काव्य-परिचय

इनकी सारी रचनाओं में विषाद की एक गहरी छाया है। उन्होंने हृदय के प्रत्येक स्पंदन, शरीर के प्रत्येक कम्पन और अभाव के प्रत्येक अंकन को वाणी देने का प्रयास किया है। आन्तरिक जगत की वेदना की गम्भीरता ने अनुभूति को विस्तार प्रदान किया है। उनके लिए उषा, संध्या, दिवस और रात्रि सभी आँसुओं से भीगे हैं। प्रकृति की

प्रत्येक गति में कसक है। पीड़ा का इतना कोमल विस्तार हिन्दी के किसी अन्य कवि में नहीं मिलता।

रहस्यवाद

मीरां की भाँति महादेवी जी ने ब्रह्म को अपने प्रियतम के रूप में देखा है। ब्रह्म ने निर्विकार होते हुए भी शून्य से विश्व का निर्माण किया है, जिस प्रकार मकड़ी जाले का निर्माण करती है :—

स्वर्ण लतिका सी वह सुकुमार, हुई उसमें इच्छा साभार,
उगल जिसने तिन रंगे तार, बुन लिया अपना ही संसार।

उनकी रचनाओं में सृष्टि, स्थिति, प्रलय ईश्वर के सभी कृत्यों के चित्र हैं।

आत्मा की चिरन्तन विकलता तथा ब्रह्म के संयोग के लिए अपार तड़पन उनके काव्य में है :—

दूर प्रिय से हूँ, अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

तथा,

फिर विकल हैं प्राण मेरे।
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ, उस ओर क्या है?
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है,
क्यों मुझे प्राचीर बन कर आज मेरे प्राण घेरे।

इत्यादि पंक्तियों में आत्मा की अज्ञात के प्रति आकुलता महादेवी जी की रहस्यात्मक अनुभूतियों का प्रमाण है। कुछ पंक्तियों में आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन है :—

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा है।

भक्त कवियों की भाँति इनकी रचनाओं में भी आत्म-विश्वास झलकता है जिसके कारण वे चुनौती दे सकती हैं :—

क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो?

'छायावादी' कवियों पर पलायन वृत्ति का आरोप किया गया है। उसके बारे में महादेवी ने लिखा है—"सत्य तो यह है कि युगों से परिचित से अपरिचित, भौतिक से अध्यात्म, भाव से बुद्धिपक्ष, यथार्थ से आदर्श आदि की ओर मनुष्य को ले जाने और उसी क्रम से लौटाने का बहुत कुछ श्रेय इसी पलायन वृत्ति को दिया जा सकता है।" (आधुनिक कवि—१, पृष्ठ १९)।

प्रकृति-चित्रण

महादेवी के गीत आधुनिक खड़ी बोली में विशेष महत्व रखते हैं। उनके गीतों में गीति-कला का अच्छा विकास हुआ है। वेदना की गहराई के कारण उनके गीतों में करुणा की प्रधानता है जो उन्हें विशेष सौन्दर्य प्रदान करती है। शब्द-चयन की सतर्कता इनके गीतों में नाद-सौन्दर्य की अवतारणा करती है।

रस और अलंकार

अलंकार उनके काव्य-सौन्दर्य को और भी बढ़ा देते हैं। अपह्नुति, उल्लेख, यथासंख्य, यमक, समासोक्ति आदि अलंकारों के सुन्दर उदाहरण उनकी रचनाओं में मिल जाते हैं। उन्होंने अभिशाप, वरदान, वीणा और झंकार तथा क्षितिज जैसे नये प्रतीकों का निर्माण किया है। उनके उपमान स्थूल न होकर सूक्ष्म हैं। महादेवी जी ने रस का उद्रेक रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से किया है।

विशेषता

महादेवी जी चित्र भी बनाती हैं। वे रेखा और शब्दों दोनों के ही माध्यम से भाव व्यक्त करने में अत्यन्त कुशल हैं,। छायावादी कवियों में उनका विशेष स्थान है।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में उनके कुछ गीत हैं जो अपनी वेदनामयी अनुभूति में आधुनिक काव्य को असर बना सकते हैं।

ग्रन्थ

अतीत के चल चित्र, स्मृति की रेखाएं आदि गद्य ग्रंथों के अतिरिक्त

उन्होंने जो काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं उनमें मुख्य हैं, नीहार, रश्मि, सान्ध्य गीत, यामा और दीप-शिखा।

गीत

: १ :

आज क्यों तेरी वीणा मौन ?
शिथिल, शिथिल तन थकित हुए कर
स्पन्दन भी भूला जाता उर,
मधुर कसक-सा आज हृदय में
आन समाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?
झुकती जाती पलकें निश्चल,
चित्रित, निद्रित-से तारक दल,
सोता पारावार दृगों में
भर-भर लाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?
बाहर घन-तम, भीतर दुख-तम
नभ में विद्युत, तुम में प्रियतम,
जीवन पावस - रात बनाने
सुधि बन छाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

: २ :

तुम मुझ में प्रिय! फिर परिचय क्या;
तारक में छवि, प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति,

भर लायी हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या ?

तेरा मुख सहास अरुणोदय,
परछाईं, रजनी विषादमय,
यह जागृति, वह नींद स्वप्नमय,
खेल-खेल, थक-थक सोने दो,
मैं समझूँगी सृष्टि-प्रलय क्या ?

तेरा अधर - विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मिति मिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला,
फिर पूछूँ क्या मेरे साकी ?
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

रोम-रोम में नन्दन पुलकित,
साँस-साँस में जीवन शत-शत,
स्वप्न-स्वप्न में विश्व अपरिचित,
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?

हारूँ तो खोऊँ अपनापन,
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन,
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन,
भर लाऊँ सीपी में सागर,
प्रिय ! मेरी अब हार-विजय क्या ?

चित्रित तू, मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू, मैं स्वर-सरगम,
तू असीम, मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

: ३ :

मैं बनी मधुमास, आली !
आज मधुर विषाद की घिर करुण आयी यामिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी,
उमड़ आयी री दृगों में
सजनि ! कालिन्दी निराली !
रजत स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली,
जाग सुख-पिक ने अचानक मदिर पंचम तान ली,
बह चली निश्वास की मृदु
वात, मलय निकुंज-पाली !
सजल रोमों में बिछे हैं पाँवड़े मधु-स्नात से,
आज जीवन के निमिष भी दूत हैं अज्ञात से,
क्या न अब प्रिय की बजेगी,
मुरलिका मधु राग वाली ?
मैं बनी मधुमास आली !

: ४ :

शलभ ! मैं शापमय वर हूँ !
किसी का दीप निष्ठुर हूँ !
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृंगार - माला,
ज्वाल अक्षय कोप - सी
अंगार मेरी रंगशाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।
नयन में रह किन्तु जलती
पुतलियाँ आगार होंगी !
प्राण मैं कैसे बसाउँ ?
कठिन अग्नि-समाधि होगी !

फिर कहाँ पालूं तुझे, मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ !
हो रहे झर कर दृगों से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल;
पिघलते उर से निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल;
एक ज्वाला के बिना, मैं राख का घर हूँ !
कौन आया था न जाने
स्वप्न में मुझको जगाने;
याद में उन अँगुलियों के
हैं तुझे पर युग बिताने;
रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ !
शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सबेरा,
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा,
मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ ।

सब बुझे दीपक जला लूँ

घिर रहा तम आज दीपक-रागिनी अपनी जगा लूं ।
क्षितिज-कारा तोड़ कर अब
गा उठी उन्मत्त आंधी,
अब घटाओं में न रुकती
लास तन्मय तड़ित बाँधी,
धूलि की इस वीण पर मैं तार हर तृण का मिला लूं ।
भीत तारक मूंदते दृग
भ्रान्त मारुत पथ न पाता,
छोड़ उल्का - अंक नभ में
ध्वंस, आता हरहराता,
उँगलियों की ओट में सुकुमार सब सपने बचा लूं ।

लय बनी मृदु वर्तिका
हर स्वर जला बन लौ सजीली,
फैलती आलोक सी
झंकार मेरी स्नेह - गीली,
इस मरण के पर्व को मैं आज दीवाली बना लूं।
देख कर कोमल व्यथा को
आँसुओं के सजल रथ में,
मोम सी साधें बिछा दीं
थीं इसी अंगार - पथ में,
स्वर्ण हैं वे मत कहो अब क्षार में उनको सुला लूं।
अब तरी पतवार लाकर
तुम दिखा मत पार देना,
आज गर्जन में मुझे बस
एक बार पुकार लेना।
ज्वार को तरणी बना, मैं इस प्रलय का पार पा लूं।
आज दीपक - राग गा लूं।

१६. डा० रामकुमार वर्मा

जन्म-सम्वत् : १९६२ वि०

काव्य-प्रेरणा

बुन्देलखण्ड के पर्वतीय प्रदेश के सौन्दर्य को देखकर बालक रामकुमार के मन में उसके प्रति प्रेम का उदय हुआ, एक जिज्ञासा हुई, जीवन के प्रति उत्पन्न जिज्ञासा कवि के मन की जिज्ञासा बनी। उसने अपनी पूजनीया माता जी से भारत की नारियों की महानता का परिचय प्राप्त किया और उनकी वर्तमान अवस्था से क्षुब्ध होकर उन्हें शिक्षा देने के लिए अठारह वर्ष की अवस्था में ही एक काव्य-ग्रन्थ की रचना कर डाली जो गंगा पुस्तकमाला से प्रकाशित भी हुई। कवि का मन इससे ही सन्तुष्ट न हो सका, उसने जीवन और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप कई काव्य-ग्रन्थों की रचना हुई। उसने अध्ययन-शीलता को अनुभूति के साथ जीवन में उतार लिया है। भावना के संघर्ष में कविता चिनगारी की भाँति फूट निकली।

जीवन-वृत्त

डा० रामकुमार वर्मा का जन्म सम्वत् १९६२ वि० में सागर (मध्य प्रदेश) में हुआ। इनके पिता श्री लक्ष्मीप्रसाद वर्मा डिप्टी कलक्टर थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा नरसिंहपुर, जबलपुर, जगदलपुर (बस्तर राज्य) आदि स्थानों पर हुई। ये अपने विद्यार्थी-जीवन में प्रथम श्रेणी के छात्र थे। प्रयाग विश्वविद्यालय से आपने हिन्दी में एम० ए० किया, सारे विश्वविद्यालय में आपका स्थान प्रथम रहा। आपको हालैण्ड मैडेल भी मिला था जो सभी क्षेत्रों में श्रेष्ठ रहने वाले छात्र को दिया जाता है। उसी वर्ष से ये प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यापक हुए।

कुछ समय तक ये मध्य प्रदेश में शिक्षा-विभाग के सहायक-संचालक रहे हैं।

रामकुमार जी अत्यन्त सरल स्वभाव के व्यक्ति हैं। इनसे एक बार मिलने से ही इनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। अपने विद्यार्थियों के प्रति ये अत्यन्त उदार हैं और हर प्रकार से उनकी सहायता किया करते हैं।

डा० वर्मा हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ वर्तमान नाटककार हैं। हिन्दी रंगमंच के लिए उन्होंने जो कार्य किया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। प्रयाग विश्वविद्यालय ड्रैमैटिक एसोसियेशन के आप अध्यक्ष थे जिसमें प्रतिवर्ष अनेक नाटक अभिनीत किये जाते हैं। भारत सरकार द्वारा आपका बड़ा सम्मान है और आप केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की विशेषज्ञ-समिति के सदस्य हैं। अखिल भारतीय हिन्दी परिषद् के आप प्रमुख संस्थापक सदस्य हैं और उसके प्रधान मन्त्री तथा उपसभापति आदि महत्वपूर्ण पदों को सुशोभित कर चुके हैं। इस समय भी आप भारतीय हिन्दी परिषद् के उपसभापति हैं।

काव्य-परिचय

रामकुमार जी कविता को पूजा की वस्तु मानते हैं। उनकी रचनाओं में भौतिक शृङ्गार का अभाव है। उनकी धारणा है कि कवि को जीवन की प्रवृत्तियों से मनुष्यता का सन्देश निकाल कर घोषित करना चाहिए। उन्होंने इसी आदर्श का पालन अपनी रचनाओं में किया है।

वर्मा जी ने छायावाद को रहस्यवाद का रूप दिया है। उनके रहस्यवाद में निम्नलिखित तत्व हैं :—

१—आत्मा में आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूति की क्षमता।

२—उसमें अपने आराध्य से मिलने की भावना का स्मरण। आत्मा और आराध्य में ऐक्य, एकीकरण नहीं।

३—आत्मा और आराध्य में प्रेम निश्छल रूप से प्रगतिशील रहे।

उनकी कविता में वेदना का आधिक्य है, किन्तु उनकी यह वेदना आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं। वे यह मानते हैं कि सुख की अपेक्षा दुख

में ही प्राणों का अधिक स्पन्दन होता है और प्राणों के स्पन्दन के साथ ही कविता गूंज उठती है। इनके गीतों में प्रेम है किन्तु पीड़ा के साथ। उन्होंने सिद्धि प्राप्त कर ली फिर भी वे तपस्या-साधना के एक ज्वलित क्षण हैं, नव प्रभा का दान करते हैं किन्तु जलन के साथ। इनके प्रेम में विकलता है और आनन्द भी।

रहस्यवादी कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने ऐतिहासिक वृत्तों पर भी सरस रचनाएँ लिखी हैं। प्रारम्भिक कविताओं का उल्लेख हो ही चुका है। रामकुमार जी के काव्य में जीवन की पूर्णता है।

प्रकृति-चित्रण

प्रभात और शिक्षा का अत्यन्त सुन्दर चित्र रामकुमार जी ने खींचा है। निर्झर, वसन्त आदि के भी चित्र नवीन वातावरण के साथ इन्होंने प्रस्तुत किये हैं। 'ये गजरे तारों वाले' से प्रारम्भ होने वाला गीत अत्यधिक लोक-प्रिय हुआ है। प्रकृति के प्रति उनकी लालसामय आस्था है।

शैली-सौन्दर्य

रामकुमार जी के गीतों में नाद-सौन्दर्य के साथ चित्रात्मकता का मधुर संयोग है।

'छू लो तो मैं हार मान लूं।'
'न' कह कर तुम हँस देते हो, कैसे मैं इन्कार मान लूं ?'

शब्द-चयन की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। खड़ी बोली की कर्कशता को समाप्त करने में रामकुमार जी का प्रमुख हाथ है। उन्होंने काव्योचित पदावली का निर्माण किया है।

रामकुमार जी के उपमानों में नवीनता है। अमूर्त उपमानों का प्रयोग करने में वे अत्यधिक सफल हुए हैं।

डा० वर्मा मुक्तछन्द के पक्ष में नहीं हैं। वे कविता में भावात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य के समर्थक हैं। उनके काव्य में एक भी शिथिल पंक्ति का मिलना असम्भव है।

विशेष महत्व

रामकुमार जी ने हिन्दी छायावाद को एक नयी विशेषता दी है। वह है रहस्यवादी दृष्टि। रामकुमार हिन्दी के कुशल नाटककार हैं। इन्होंने अनेक नाटकों की रचना की है। अभी इन्होंने हिन्दी में प्रथम चित्र-रूपक "सत्य का स्वप्न" लिखा है। वर्मा जी एक श्रेष्ठ आलोचक भी हैं। कबीर पर आपका विशेष अधिकार है। आपकी काव्यकृति 'चित्ररेखा' पर २००० रुपये का देव-पुरस्कार मिला है। इसके अतिरिक्त आपको कई अन्य पुरस्कार भी मिले हैं। 'विजय पर्व' नाटक पर आपको म० प्र० शा० सा० प० द्वारा ढाई हजार रुपये का महाकवि कालिदास पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में रामकुमार के कुछ मधुर गीत हैं जिनमें जीवन के अनेक चित्र मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य के साथ चित्रित हुए हैं। गीतों में संगीत की सरलता स्पष्ट देखी जा सकती है।

ग्रन्थ

अनेक नाटकों तथा आलोचनात्मक ग्रन्थों के अतिरिक्त रामकुमार जी के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं, आकाश-गंगा, अंजलि, अभिशाप, रूपराशि, चित्र-रेखा, चन्द्रकिरण, एकलव्य आदि। ·(सुरेशचन्द्र अग्निहोत्री)

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार बीच
जग कर, सज कर, रजनी-वाले !
कहाँ वेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले ?
मोल करेगा कौन !
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी,
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी
निर्झर के निर्मल जल में,
ये गजरे लहरा कर धोना,

लहर हहर कर यदि चूमे तो,
किंचित विचलित मत होना।
होने दो प्रतिविम्ब विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना,
'लो मेरे तारों के गजरे'
निर्झर-स्वर में यह गाना।
यदि प्रभात तक कोई आकर
तुमसे हाय ! न मोल करे,
तो फूलों पर ओस-रूप में,
बिखरा देना सब गजरे।

अशान्त

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में,
कैसे देखूं जीत ?
उषा अभी सुकुमार, क्षणों में—
होगी वही स - तेज,
लता बनेगी ओस - बिन्दु की
सरल मृत्यु की सेज।
कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप।
किसका गायन बने, न जाने मेरे प्रति अभिशाप !
क्या हैं अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का ?—अज्ञात,
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात ?
और कांच के टुकड़े बिखरा
कर, क्यों पथ के बीच,

भूले हुए पथिक-शशि को, दुख
देता हैं नभ नीच ?
यही निराशामय उलझन है, क्या माया का जाल ?
यहाँ लता में लिपटा रहता, छिप कर भीषण व्याल ।

देख रहा हूँ बहुत दूर पर
शान्ति-रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मैं अशान्त-तम
ही सकता हूँ देख ।
काँप रही स्वर अनिल-लहर
रह रह कर अधिक सरोष,
डर कर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष ।

कैसा है अन्याय ? न्याय का स्वप्न देखना पाप,
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप ।

हास्य कहाँ है ? उसमें भी है,
रोदन का परिणाम !
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में
करती है विश्राम !
दया कहाँ है ? दूषित उसको
करता रहता रोष !
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोष !

धूल हाय ! बनने ही को खिलता है फूल अनूप !
वह विकास है, मुरझा जाने ही का पहला रूप !

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,

उठा शून्य में रह जाता है
मेरा भिक्षुक - हाथ।
मेरे निकट शिलायें, पाकर
मेरा श्वास - प्रवाह,
बड़ी देर तक गुंजित करती
रहती मेरी आह।

मर ! मर ! शब्दों में हँस कर, पत्ते हो जाते मौन,
भूल रहा हूँ स्वयं, इस समय मैं हूँ जग में कौन ?

वह सरिता है, चली जा रही—
है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते
दोनों तट विश्राम।
मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठों याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने
शान्ति - शान्ति का नाम।

लहरों को अपने अंगों में तट कर लेता लीन,
लीन करेगा कौन अरे, यह मेरा हृदय मलीन !

किरण-कण

एक दीपक - किरण - कण हूँ।
धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं,
नव-प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं,
सिद्धि पाकर भी तपस्या-साधना का ज्वलित क्षण हूँ।
एक दीपक-किरण कण हूँ।

व्योम के उर में अगाध भरा हुआ है जो अँधेरा,
और जिसने विश्व को दो वार क्या सौ बार घेरा,
उस तिमिर का नाश करने के लिये मैं अखिल प्रण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

शलभ को अमरत्व दे, प्रेम पर मरना सिखाया,
सूर्य का संदेश लेकर, रात्रि के उर में समाया
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

चट्टान

दृढ़ खड़ी, कड़ी, टेढ़ी, अखण्ड,
चट्टान अटल जड़-सी विषण्ण ।

भू-मण्डल में निर्भीक वायु-मण्डल का शून्यान्तर बिगाड़
झाड़ों के झुण्ड चपेट भूमि पर बैठी है बन कर पहाड़,
चुपचाप, हजारों लाखों मन का पिण्ड बनी भू-खंड फाड़,
भू-खडों की दुर्द्धर्ष शक्तियाँ उसको क्या पाईं उखाड़ ?

ना, परिवर्तन को रोक सके—
अमर जीवन का लेकर स-बल मंत्र,
चट्टान खड़ी है—आदि सृष्टि—
निर्माण देख, भीषण, स्वतन्त्र ।

वर्षाओं का आघात—बीच में खड़ी हुई निर्भीक भ्रान्त,
जैसे चामुण्डा—और प्रहारों को करते-से चर-ध्वान्त ।
सब थके—एक चट्टान विश्व की सुदृढ़ शक्ति संपूर्ण नान्त,
केन्द्रित दिग्कोण चतुर्भुज-सी शासन करती-सी अखिल प्रान्त !

यह महाशक्ति सौन्दर्य ! विजय-सौन्दर्य !
अटलता का विधान ।

मैं था मुरझाया फूल-आज,
बन गया शक्ति का बीज ज्ञान।

तेरी अटूट कोरों में मेरे उलझ गये हैं नयन-कोर,
तेरी उदारता पर चढ़कर नभ तक फैले ये नयन छोर।
तेरी दृढ़ता में आज सुदृढ़ बन गई भावना की हिलोर,
तेरी अखंडता देख, देखता हूँ उर में दृढ़ता विभोर।

अब कहाँ पराजय ! कहाँ हीनता !
कहाँ क्लैब्य है ! कहाँ हार !
ओ शिलाखंड ! मैं कठिन भाग्य की—
तरह बन गया दुर्निवार।

हाँ, एक बात ! क्या तुझमें कोई सिसक रही अभिशाप-शप्त ?
वह कौन ? अहिल्या ! ओ नारी ! तू कहाँ रही यों सिक्त-तप्त !
क्या वीतराग की एक किरण, खा गई प्रेम की किरण-सप्त ?
क्या इस कठोरता के विराग में, आन्दोलित है उर विलप्त ?

किसका विराग ? किसका क्रन्दन ?
ओ ठहर, विश्व के व्यथित पाप !
तू आज शिला बन कर नारी के—
आँसू भी पी गया आप ?

प्रातः वेला का भ्रम, मुनि का नियमित क्रम, नारी-तन अनुपम।
ये तीनों जैसे एक दूसरे के विद्रोही, क्रूर विषम !
यह विधि का गुरु षड्यंत्र, और निर्जन, निद्रित एकाकी तम।
फिर एक अधम का अन्ध मदन, सरला नारी का यौवन-भ्रम ?

किसका है यह अपराध ? अरे गौतम !
चुप, अपना हृदय थाम !
यह नारी है वंचिता, दया की पात्री
निश्चय ही अकाम !!

पर टेढ़ा-सा पाषाण-रूप में, आह ! निकल ही गया शाप ।
यह शिला—आज अपराधों की केवल बनकर रह गई माप ।
केवल कठोरता ! मौन रुदन ! पत्थर के भीतर चिर विलाप !
फिर विधि-विधान यह रहा कि रवि का वह झेले प्रतिदिन प्रताप ।

वर्षा भी निज आघातों से दे,
इसी शिला को तोड़ - फोड़ ।
हिमकुंठित कर दे उस नारी के,
कंकालों के जोड़ - जोड़ ।।

कोमलता की प्रतिहिंसा ! यह मेरे सम्मुख शिला-खंड
निर्बलता अपनी निष्ठुरता में बनी आज अतिशय प्रचंड !!
उस पर अब वर्षा के प्रचंड अभिशाप हिमोपल खंड-खंड—
बन कर गल जाते हैं, अपने ही दंडों से पा रहे दंड ।

ऐसी यह है चट्टान आज !
अपने कण-कण में रही जाग,
इसमें न एक भी अंश रुदन है,
इसमें है परिव्याप्त आग !!

क्या इसमें है परिव्याप्त आग ? मुझमें भी जागी यही आग !!
मैं दृढ़ हूँ—सागर उठे, देखना निकल न आए कहीं झाग ?
मैं हूँ अखंड, कायरता का मुझमें न कहीं भी लगा दाग ।
आकर चाहे मुझको देखे, भू-मण्डल का प्रत्येक भाग !!

मैं अपने प्रण की प्रकट शक्ति से—
चिर वर्षों तक हूँ प्रचण्ड !
दृढ़ खड़ी, कड़ी, टेढ़ी, अखण्ड,
चट्टान अटल जड़-सी विषण्ण !!

१७. श्री रामधारी सिंह "दिनकर"

जन्म-सम्वत् : १९६५ वि०

काव्य-प्रेरणा

'दिनकर' जी की कविता का विकास प्रारम्भ में कल्पना के साथ ही हुआ, किन्तु जीवन की विषाक्तता देखकर उनके विचारों में परिवर्तन हुआ और वे मानव जीवन के कवि बन गये। कविता के अनुपम भावों के साथ राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण सामने रखने में वे सफल हुए हैं। उनकी राष्ट्रीयता सांस्कृतिक भावों से ओत-प्रोत है। हृदय की सूक्ष्म भावनाओं के साथ वे देश के प्राचीन गौरव की ओजस्विनी भावनाओं को स्पष्ट करते हैं। देश की महत्वपूर्ण परम्पराओं को अपने विशाल अनुभव और राष्ट्रीयता के भावों के सहारे इन्होंने बड़े गम्भीर और संयत रूप में व्यक्त किया है। वे आधुनिक हिन्दी के सांस्कृतिक कवि हैं।

जीवन-वृत्त

'दिनकर' जी का जन्म स्थान मुंगेर (बिहार) है। बी० ए० तक शिक्षा ग्रहण करने के बाद ये सरकारी नौकरी करने लगे। बहुत दिनों तक इन्होंने सहायक रजिस्ट्रार के पद पर कार्य किया। बाद में वे ऑल इण्डिया रेडियो में नियुक्त हो गये। वे कुछ समय केन्द्र में राज्य परिषद् के सदस्य भी रहे। जीवन की विविध परिस्थितियों में 'दिनकर' जी ने काव्य की साधना का मार्ग नहीं छोड़ा। गाँधी जी का प्रभाव भी इन पर विशेष रूप से पड़ा।

काव्य-परिचय

'दिनकर' जी हिन्दी के उन कवियों में से हैं जिन्होंने काव्य-कला का उपयोग जन-जीवन के लिए किया है। समाज के दलित वर्ग के प्रति इनकी

सक्रिय सहानुभूति है, उस सहानुभूति ने इनके काव्य में अभिव्यक्ति पाई है। कल्पना की उड़ान, जीवन के यथार्थ से अलग नहीं हो सकी है। उनमें मस्ती है, तन्मयता है और सरसता है। सामाजिक क्रूरता को वे सहन नहीं कर सके, उसके विरुद्ध उन्होंने अपनी कृतियों में आवाज उठायी है।

'दिनकर' जी राष्ट्रीय भावना के कवि हैं। पराधीन भारत की जनता में उन्होंने उत्साह जगाया है, उसे अतीत के गौरव से परिचित कराया है, साथ ही उसे स्वाधीनता समर में भाग लेने के लिए सचेत किया है।

'दिनकर' जी की रचनाओं में प्रकृति का चित्र हमारे सामने आता है, किन्तु वे राष्ट्र की विपत्ति के समय में न तो व्योम-कुंजों में ही रमना चाहते हैं और न वे फूलों से खेलना ही पसन्द करते हैं। उन्होंने राजनीति जैसी तर्क-प्रधान वृत्तियों को काव्य का परिधान दिया है। 'कुरुक्षेत्र' उनका ऐसा ही सुन्दर महाकाव्य है। उसमें कविता और राजनीति का संगम है। 'दिनकर' अपनी रचनाओं में स्पष्ट और तेजस्वी हैं।

शैली-सौन्दर्य

'दिनकर' की भाषा में प्रवाह है। ओज और सरसता का साथ-साथ प्रयोग करने के कारण 'दिनकर' की कविता अधिक लोकप्रिय हुई है। उनकी भाषा परिमार्जित है। वे वर्णात्मकता में अधिक विश्वास रखते हैं। व्यंग्य उनका महान् अस्त्र है। अलंकारों का प्रयोग वे वहीं तक सार्थक समझते हैं, जहां तक उनके काव्य का भाव-पक्ष तीव्र और प्रखर हो सकता है।

विशेषता

'दिनकर' जी हिन्दी के प्रमुख साँस्कृतिक कवि हैं। इन्होंने विगत अतीत के गौरव को हमारे सामने रखा है। उस अतीत की प्रेरणा इतनी महान् है कि हम उससे अपने वर्तमान जीवन को अधिक महान् कर सकते हैं। अतीत और वर्तमान पर एक सुन्दर सेतु निर्माण करने वाले शिल्पी के रूप में 'दिनकर' ने विशेष सफलता पाई है। कल्पना की अपेक्षा 'दिनकर' में भाव-तीव्रता अधिक है।

प्रस्तुत संग्रह

इस संग्रह में "पाटलीपुत्र की गंगा से" शीर्षक कविता है, जिसमें, 'दिनकर' के साँस्कृतिक दृष्टिकोण की स्पष्टता है। वर्णन के साथ प्रवाह है और प्रवाह के साथ भावों की तरंगें इस प्रकार उठती हैं कि वे सीधे हृदय तक पहुँच जाती हैं।

ग्रंथ

रेणुका, हुंकार, रसवंती, कुरुक्षेत्र, नील कुसुम आदि।

पाटलिपुत्र की गंगा से

संध्या की इस मलिन सेज पर
गंगे! किस विषाद के संग
सिसक-सिसक कर सुला रही तू
अपने मन की मृदुल उमंग।

उमड़ रही आकुल अन्तर में
कैसी यह वेदना अथाह,
किस पीड़ा के गहन भार से
निश्चल-सा पड़ गया प्रवाह।

मानस के इस मौन मुकुल में
सजनि! कौन-सी व्यथा अपार,
बन कर गन्ध अनिल में मिल,
जाने को खोज रही लघु द्वार!

चल अतीत की रंग-भूमि में
स्मृति-पंखों पर चढ़ अनजान
विकल-चित्त सुनती तू अपने
चन्द्रगुप्त का क्या जय-गान?

घूम रहा पलकों के भीतर
स्वप्नों सा गत विभव विराट

आता है क्या याद ? मगध का
सुरसरि ! वह अशोक सम्राट् ।

संन्यासिनी-समान विजन में
कर-कर गत विभूति का ध्यान,
रो रोकर गा रही देवि ! क्या
गुप्त-वंश का गरिमा-गान ?

गूंज रहे तेरे इस तट पर
गंगे ! गौतम के उपदेश,
ध्वनित हो रहे इन लहरों में
देवि ! अहिंसा के संदेश ।
कुहुक-कुहुक मृदु गीत वही
गाती कोयल डाली-डाली
वही स्वर्ण-सन्देश नित्य
बन आता ऊषा की लाली ।

तुझे याद है ? चढ़ पदों पर
कितने जय सुमनों के हार ?
कितनी बार समुद्रगुप्त ने
धोई है तुझ में तलवार ।
तेरे तीरों पर दिग्विजयी
नृप के कितने उड़े निशान,
कितने चक्रवर्तियों ने हैं
किये कूल पर अवभृथ-स्नान ?

विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर
सैल्यूकस की वह मनुहार
तुझे याद है ? देवि ! मगध का
वह विराट् उज्ज्वल श्रृंगार ।

जगती पर छाया करती थी
कभी हमारी भुजा विशाल,
वार-वार झुकते थे पद पर
ग्रीक, यवन के उन्नत भाल।

उस अतीत गौरव की गाथा
छिपी नहीं उपकूलों में
कीर्ति-सुरभि वह गमक रही
अब भी तेरे वन-फूलों में।

नियति-नटी ने खेल-कूद में
किया नष्ट सारा शृङ्गार,
खँडहर की धूली में सोया
तेरा स्वर्णोदय साकार।

तूने सुख-सुहाग देखा है
उदय और फिर अस्त, सखी!
देख आज निज युवराजों को
भिक्षाटन में व्यस्त सखी!

एक एक कर गिरे मुकुट
विकसित बन भस्मीभूत हुआ,
तेरे सम्मुख महासिन्धु
सूखा, सैकत उद्भूत हुआ।

वधक उठा तेरे मरघट में
जिस दिन सोने का संसार
एक एक कर लगा दहकने
मगध-सुन्दरी का शृङ्गार।

जिस दिन जली चिता गौरव की
जय - भेरी जब मूक हुई,

जम कर पत्थर हुई न क्यों
यदि टूट नहीं दो-टूक हुई।

देवि! आज बज रही छिपी ध्वनि
मिट्टी में नक्कारों की,
गूँज रही झन-झन धूलों में
मौर्यों की तलवारों की।

दायें पार्श्व पड़ा सोता
मिट्टी में मगध शक्तिशाली,
वीर लिच्छवी की विधवा
बायें रोती है वैशाली।

तू निज मानस-ग्रन्थ खोल
दोनों की गरिमा गाती है,
वीचि-दृगों से हेर-हेर
सिर धुन-धुन कर रह जाती है।

देवी! दुखद है वर्तमान की
वह असीम पीड़ा सहना,
कहीं सुखद इससे संस्मृति में
है अतीत की रत रहना।

अस्तु, आज गोधूलि-लग्न में
गंगे! मन्द-मन्द बहना,
गाँवों, नगरों के समीप चल
दर्द-भरे स्वर में कहना—

"सम्प्रति जिसकी दरिद्रता का
करते हो तुम सब उपहास,
वहीं कभी मैंने देखा है
मौर्य-वंश का विभव-विलास"।

सहायक प्रश्न

१—कबीर की नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक के रूप में आलोचना कीजिए।

२—"सूरदास वात्सल्य और शृङ्गार के कवि हैं। अपने क्षेत्र में जितनी अधिक सफलता उन्होंने प्राप्त की है, उतनी हिन्दी के किसी अन्य कवि को नहीं मिली।" इस उक्ति की सत्यता पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

३—गोस्वामी तुलसीदास का हिन्दी साहित्य में क्या स्थान है ?

४—कबीर, सूर और तुलसी में आप किसे सबसे बड़ा समझते हैं और क्यों ?

५—काव्य-सौन्दर्य, भाषा-शैली तथा भक्ति-भाव के दृष्टिकोण से सूर और तुलसी की तुलना कीजिये।

६—जायसी की कविता में किन भावों की प्रधानता है ?

७—भाषा-शैली तथा विषय की दृष्टि से तुलसी और जायसी की तुलना कीजिये।

८—"मीरां-बाई में कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष की प्रधानता है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

९—"केशव की कविता में केवल भाषा का चमत्कार तथा उक्ति-वैचित्र्य की लम्बी उड़ान है।" यह कहना कहाँ तक उचित है ?

१०—रसखान की कविता की विशेषता क्या है ?

११—"भूषण हमारे सच्चे राष्ट्रीय कवि हैं" यह कहना कहाँ तक ठीक है ?

१२—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की काव्य-भाषा तथा शैली पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

१३—क्या 'हरिऔध' जी को आधुनिक हिन्दी जगत् का प्रतिनिधि कवि कहना उचित होगा ? "हरिऔध" जी ने कृष्ण के चरित्र-चित्रण में क्या मौलिकता दिखलाई है ?

१४—"रत्नाकर जी का प्रत्येक कवित्त शृङ्गार का एक कल्पतरु है तथा उनके प्रकृति-चित्रण में अपूर्ण सजीवता है।" इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

१५—श्री मैथिलीशरण गुप्त खड़ी बोली के सबसे लोकप्रिय कवि हैं। क्यों ? गुप्त जी तथा 'हरिऔध' जी की तुलना कीजिए।

१६—प्रसाद जी के काव्य पर उनके नाटकों का क्या प्रभाव पड़ा है।

१७—"पंत जी प्रकृति के सबसे सुकुमार कवि हैं।" इंस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

१८—"श्री रामकुमार वर्मा के नैराश्य में आशा की एक निहित ज्योति है।" इसका तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।

१९—"श्री महादेवी वर्मा करुणा की सबसे बड़ी कवयित्री हैं।" विवेचना कीजिए।

२०—श्री महादेवी वर्मा की करुणा की मीरां की करुणा से तुलना कीजिए।

२१—"साहित्य किसी युग विशेष का प्रतिबिंब होता है।" वीर-गाथा काल से आधुनिक काल तक के हिन्दी-काव्य का अवलोकन करते हुए उत्तर दीजिए।

परिशिष्ट

"इस परिशिष्ट की कविताएँ केवल सामान्य हिन्दी लेने वाले परीक्षार्थियों को पढ़ना है। भाषा तथा साहित्य लेने वाले परीक्षार्थियों को बिहारी की कविताएँ नहीं पढ़नी हैं।"

बिहारीलाल

जन्म संवत् : १६५२ मृत्यु संवत् : १७२१

वातावरण

सम्राट अकबर के शासन-काल की संध्या में संगीत, चित्रकला और काव्य-कला का मनोहर प्रभात हो रहा था। मुगल शासकों का प्रभुत्व अधिकांश राजपूत-नरेशों द्वारा मान्य हो चुका था और शासन की व्यवस्था में जनता में सुख-शान्तिपूर्ण वातावरण का आभास ज्ञात होने लगा था। भक्ति काल का कवच ढीला पड़ने लगा था और शरीर की इन्द्रिय-जनित आकांक्षायें जो 'चेतावनी' और 'उपदेश' की संकरी गलियों में कुंठित सी हो रही थीं अब कला, संगीत और काव्य के राज मार्ग पर स्थूल होकर अग्रसर होने लगी थीं। ऐसे ही वातावरण में महाकवि बिहारी का आविर्भाव हुआ।

जीवन-वृत्त

बिहारीलाल ने ग्वालियर के एक सुसंस्कृत ब्राह्मण परिवार में संवत् १६५२ में जन्म लिया। इनके पिता का नाम केशवराय था जो स्वयं विद्वान, धर्म-प्रवण और काव्य रसिक थे। जब बिहारी बालक थे, तभी उनके पिता ने ग्वालियर से ओरछा प्रस्थान किया और वहाँ वे ओरछा दरबार के साहित्यिक वातावरण से अत्यधिक प्रभावित हुये। वे महाकवि केशवदास के सम्पर्क में भी आये और उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य से प्रभावित होकर वे संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन और मनन में समय व्यतीत करने लगे। साथ ही साथ धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण वे ओरछा के संत नरहरिदास के शिष्य भी हो गये। बालक बिहारीलाल को काव्य, कला और धर्म के समस्त संस्कार अपने पिता से ही प्राप्त हुए और कालान्तर में उनकी प्रतिभा ने पिता के समस्त संस्कारों को कविता के साँचे में डाल लिया।

ओरछा निवास के उपरान्त बिहारीलाल वृन्दावन चले गये। वहीं भगवान कृष्ण की लीला-भूमि देखकर वे भाव विभोर हो गये। वे राधावल्लभी सम्प्रदाय से प्रभावित होकर राधा और श्रीकृष्ण के परम भक्त बन गये। इसी समय उनका विवाह मथुरा की ब्राह्मण-कन्या से हो गया और वे गृहस्थ-धर्म में प्रविष्ट हुए। कालान्तर में मुगल सम्राट शाहजहाँ ने उनकी काव्य-प्रतिभा से प्रसन्न होकर उन्हें आगरे में निमंत्रित किया। यहाँ वे अब्दुर्रहीम खानखाना के सम्पर्क में भी आये।

संवत् १६९१ में ये जयपुर के सवाई राजा जयसिंह के यहाँ भी गये। राजा जयसिंह महाकवि बिहारीलाल की काव्य-प्रतिभा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने बिहारीलाल को अपना दरबारी कवि बना लिया। वहीं इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' लिखा गया।

ब्रजभाषा के इस महाकवि की मृत्यु ६९ वर्ष की अवस्था में संवत् १७२१ में हो गई।

काव्य-प्रेरणा

बिहारीलाल ने संस्कृत और प्राकृत साहित्य का गहरा अध्ययन किया था। प्राकृत साहित्य के कवि हालकृत 'गाथा सप्तशती' और संस्कृत के कवि गोवर्धनाचार्य के 'आर्या सप्तशती' का प्रभाव विशेष रूप से महाकवि बिहारीलाल पर पड़ा। बिहारी ने अपने काव्य की प्रेरणा इन्हीं सप्तशतियों से ग्रहण कर मुक्तक काव्य में अपनी प्रतिभा का अद्वितीय परिचय दिया है।

इस मुक्तक काव्य की रचना का एक विशिष्ट अवसर भी बिहारी को मिल गया। जब बिहारी जयपुर पहुँचे तब वहाँ के नरेश सवाई राजा जयसिंह अपनी नवविवाहिता किशोरी रानी के प्रेम में इतने लीन हो गये थे कि वे महल से बाहर ही नहीं आते थे। राज-काज अव्यवस्थित था, समस्त प्रजा संत्रस्त थी। ऐसी दशा में बिहारी ने एक छोटा-सा दोहा लिखकर राजा जयसिंह के पास पहुँचा दिया :—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यौ, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे ने तीर की तरह काम किया। राजा चैतन्य होकर महल से बाहर निकल आये और बिहारी को पुरस्कृत किया। उन्हीं के अनुरोध से अन्य दोहों की रचना होने लगी और इस प्रकार 'बिहारी सतसई' के ७१३ दोहों का निर्माण हो गया।

काव्य-परिचय

बिहारी का एक मात्र ग्रन्थ 'बिहारी सतसई' ही हिन्दी साहित्य में प्राप्त होता है। यह एक ही ग्रन्थ बिहारी की काव्य-प्रतिभा का परिचय देने में समर्थ है। यद्यपि बिहारी ने संस्कृत साहित्य के लक्षण-ग्रन्थों की भांति हिन्दी काव्य में लक्षण-ग्रन्थ की रचना नहीं की तथापि संस्कृत काव्य-ग्रन्थों के अनुसार ही इन्होंने नायक-नायिका भेद, ऋतु वर्णन, नख-शिख आदि का चित्रण राधा और कृष्ण के माध्यम से छोटे-छोटे दोहों में बड़े सरस और प्रभावशाली ढंग से किया है। जहाँ उन्होंने राधा, कृष्ण, गोप-गोपियों आदि के सौन्दर्य-चित्रण में अपनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है, वहीं उनके मनोभावों में प्रवेश कर श्रृंगार और भक्ति की यमुना और गंगा का स्वर संगम भी कराया है।

महाकवि बिहारी ने केवल श्रृंगार रस के दोहे ही नहीं लिखे, वरन् धर्म और नीति के भी अनेक दोहे लिखे हैं। इस प्रकार के दोहों में भी उनका काव्य-चमत्कार स्थान-स्थान पर लक्षित होता है। उनके ग्रन्थ 'बिहारी-सतसई' का मंगलाचरण ही राधा की वन्दना से आरम्भ होता है :—

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, श्याम हरित दुति होय॥

शैली-सौन्दर्य

बिहारी की शैली 'मुक्तक' शैली है। यह प्रबन्ध शैली से भिन्न है।

प्रबन्ध शैली में तो कार्य या व्यक्ति के वर्णन में एक श्रृंखला रहती है और बिना पूर्व और उत्तर पद के चित्र अधूरा रहता है, किन्तु मुक्तक शैली में एक ही छन्द में सरसता से सम्पूर्ण चित्र उपस्थित कर दिया जाता है। बिहारी ने अपने काव्य के लिए केवल (१३+११)=२४ मात्राओं का 'दोहा' छन्द ही चुना है। इस छोटे से छन्द में बिहारी मनोविज्ञान को समेट कर समस्त दशा का सम्यक् चित्र उपस्थित कर देते हैं :—

तीरथ सांस न लेहु दुख, सुख सांईंहि न भूलि।
दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि॥

इतने छोटे से छन्द में मन और शरीर को एक साथ चित्रित करने की शक्ति बिहारी के दोहों में अनुपम है। इसीलिए बिहारी के दोहों के सम्बन्ध में कहा गया है :—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

बिहारी मुक्तक शैली के अद्वितीय कवि हैं।

रस

बिहारी ने प्रमुख रूप से श्रृंगार रस का ही काव्य लिखा है, क्योंकि वे रीति साहित्य के कवि थे और श्री राधा और श्रीकृष्ण को लेकर उन्होंने नायक-नायिका की मनोदशा के चित्र खींचे हैं। किन्तु जहाँ बिहारी धार्मिक भावना से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण और राधा की विराट शक्ति का वर्णन करते हैं तथा भक्ति-भावना की बात करते हैं, वहाँ शान्त रस भी काव्य में दृष्टिगत होता है। जहाँ वे श्लेष और अतिशयोक्ति अलंकार का आश्रय लेते हैं, वहाँ अद्‌भुत रस तथा हास्य रस की सृष्टि हो जाती है।

अलंकार

यद्यपि बिहारी ने आचार्य केशवदास की भाँति पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है, तथापि शब्दों पर पर्याप्त

अधिकार होने के कारण उनके द्वारा वर्णन-वैचित्र्य में अलंकारों की सृष्टि सहज ही हो जाती है। कहीं-कहीं अर्थ संगति के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जाता है, जो साभिप्राय होते हैं और ऐसी स्थिति में शब्दालंकार या अर्थालंकार स्वयं निर्मित हो जाते हैं। बिहारी के काव्य में अलंकारों का प्रयोग अर्थ के सौन्दर्य तथा लालित्य के निर्माण के लिये हुआ है।

भाषा

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है जो अद्भुत और अतुलित माधुर्य और कोमलता लिए हुए है। अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति बिहारी ने शब्दों को कभी तोड़ा-मरोड़ा नहीं है। दोहों में शब्द ऐसे यथास्थान प्रयुक्त हैं कि उनके स्थान पर अन्य शब्द नहीं रखे जा सकते।

ग्रंथ

महाकवि बिहारी का एक ही ग्रंथ प्राप्त होता है—'बिहारी सतसई'।

मेरी भव वाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे, श्याम हरित-दुति होय ॥१॥

या अनुरागी चित्त की, गति समझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रंग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय ॥२॥

भजन कह्यो ताते भज्यो, भज्यो न एको बार।
दूर भजन जातें कह्यो, सो तैं भज्यों गंवार ॥३॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनों तारन-बिरदु, बारक बारनु तारि ॥४॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन कांचै नाचै वृथा, सांचै रांचै राम ॥५॥

मोहिं तुमहिं बाढ़ी बहस, को जीते जदुराज।
अपने-अपने बिरद की, दुहूँ निबाहत लाज ॥६॥

मनमोहन सौ मोह करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंज बिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥७॥

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि शैल पर, आतप पर्‌यो प्रभात ॥८॥

अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठि पट जोति।
हरित बांस की बांसुरी, इन्द्रधनुष रंग होति ॥९॥

शीश मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल ॥१०॥

बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु ते, हरि, नीके ए नैन ॥११॥

दुसह दुराज प्रजानि को, क्यों न बढ़ै दुख-द्वन्द।
अधिक अन्धेरो जग करै, मिलि पावस रवि-चन्द ॥१२॥

या बिरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाइ जिन, कीन्हें पार पयोधि ॥१३॥

कैसे छोटे नरनु तैं, सरत बड़नु के काम।
मढ़्‌यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे कै चाम ॥१४॥

बड़े न हूजे गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥१५॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार ॥१६॥

वे न इहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गंवई गाँव गुलाब ॥१७॥

नर की अरु नल-नीर की, गति एक करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ ॥१८॥

जाकै एकाएक हूँ जग व्योसाई न कोइ।
सो निदाघ फूलै, फरै, आकु डहडहौ होइ ॥१९॥

अजौं तर्‌योना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाक वास वेसर लह्यौ, वसि मुकतन के संग ॥२०॥

अति अगाधु अति औथरो, नदी, कूप, सरु, बाइ।
सो ताको सागरु, जहाँ जाकी प्यास बुझाइ ॥२१॥

जम-कर मुँह तरहरि पर्‌यो, इहि धरि हरि चित लाउ।
विषय तृषा परिहरि अज्यों, नरहरि के गुन गाउ ॥२२॥

दियौ सु सीस चढ़ाई लै, आछी भाँति अएरि।
जापै सुख चाहत लियौ, ताके दुखहिं न फेरि ॥२३॥

बढ़त-बढ़त संपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत-घटत पुनि ना घटै, बरु चाहे कुम्हिलाय ॥२४॥

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
उहि खाये बौराय जग, इहि पाये बौराय ॥२५॥

करौ कुबत जग कुटिलता, तजौ न दीन दयाल।
दुखी होइगे सरल चित, बसत त्रिभंगीलाल ॥२६॥

जो चाहो चटक न मिटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजसु न छुवाइये, नेह चीकनो चित्त ॥२७॥

को कहि सकै बड़ेनु सों, लखे बड़ी ही भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारनु वै फूल ॥२८॥

मीत न नीति गलीत हैं, जो धरिये धन जोरि।
खायें, खरचै जो जुरै, तो जोरियो करोरि ॥२९॥

इही आस अटक्यौ रहे, अलि गुलाब कै मूल।
ह्वै हैं फेरि बसंत रितु, इन डारनु वै फूल ॥३०॥

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोइ।
मन की रुचि जैसी जितै, तित तैती रुचि होइ ॥३१॥

संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगन्ध ॥३२॥
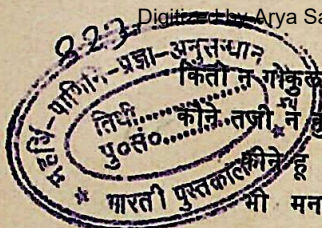
कितौ न गोकुल कुलवधू, काहि न किन
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली
कीने हू कोटिक जतन, अब
मी मनमोहन रूप मिलि, पा

बैठ रही अति सघन बन, पैठि सदन
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाह

जगत जनायो जेहि सकल, सो ह
ज्यों आंखिन सब देखिये, आँखि

घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन जांचत जाय।
दिये लोभ चसमा चखनि, लघु हू बड़ो लखाय ॥३७॥

पट पांखै मखु कांकरे, सपर परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि में, एकै तुही विहंग ॥३८॥

रनित भृङ्ग घंटावली, झरति दानि मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर ॥३९॥

कीजै चित सोई तरै, जिहि पतितनु के साथ।
मेरे गुन औगुन गननु, गनौ न गोपीनाथ ॥४०॥

कर लै सूंघि सराहि कै, रहे सबै गहि मौन।
गन्धी, गन्ध गुलाब की, गंवई गाहक कौन ॥४१॥

दूर भजत प्रभु पीठि दै, गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निगुनी निकटही, चंग रँग गोपाल ॥४२॥

कौन सुनै, कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह।
बदाबदी जिय लेत है, ये बदरा बदराह ॥४३॥

कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाउ कितहूं गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ ॥४४॥

जान्यो निरधार, यह जग काच्यो कांच सों।
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहां ॥४५॥